नवीन श्रृंखला
वर्ष - 2014
अंक - 02

New Series
Year - 2014
Vol. - 02

ISSN 2320 - 5865

संग्रहालय पुरातत्त्व पत्रिका

BULLETIN OF MUSEUMS & ARCHAEOLOGY IN U.P.

संग्रहालय पुरातत्त्व पत्रिका BULLETIN OF MUSEUMS & ARCHAEOLOGY

राज्य संग्रहालय, लखनऊ

State Museum, Lucknow

नवीन श्रृंखला
वर्ष—2014
अंक—02

NewSeries
Year- 2014
Vol.- 02

ISSN 2320 - 5865

संग्रहालय पुरातत्त्व पत्रिका

Bulletin of Museums & Archaeology in U.P.

सम्पादक

डॉ. ए. के. पाण्डेय

सह—सम्पादक

डॉ. यशवन्त सिंह राठौर

डॉ. चन्द्र मोहन वर्मा

Editor

Dr. A. K. Pandey

Sub-Editor

Dr. Yashwant Singh Rathore

Dr. Chandra Mohan Verma

राज्य संग्रहालय, लखनऊ

State Museum, Lucknow

Price : ₹ 275/-
मूल्य : ₹ 275/-

The Editors are not responsible for the opinions expressed by the contributors.

Published by : राज्य संग्रहालय, लखनऊ State Museum, Lucknow - 226 001
फोन : 0522–2206157, 2206158
website : www.upmuseums.org
Email : museumsdirectorate@gmail.com
statemuseumlucknow@gmail.com

मुद्रक : प्रकाश पैकेजर्स, 257–गोलागंज, लखनऊ, फोन : 0522–6460729

सम्पादकीय

'संग्रहालय पुरातत्त्व पत्रिका' का प्रकाशन सन् 1968 से प्रारम्भ किया गया और अत्यन्त हर्ष के साथ 'संग्रहालय पुरातत्त्व पत्रिका' का यह अंक अपने नये स्वरूप में इस विधा के जिज्ञासु जनमानस के सम्मुख प्रस्तुत है। यद्यपि कतिपय कारणों से इसके प्रकाशन में निरन्तरता नहीं रह सकी, किन्तु अब हम सतत् प्रयासरत हैं कि शोध छात्रों एवं विद्वानों में लोकप्रिय इस पत्रिका को स-समय प्रकाशित किया जाता रहे।

यह पत्रिका संग्रहालय एवं पुरातत्त्व के नये शोध को समाहित करने वाली एवं राष्ट्रीय शोध पत्रिकाओं में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। पत्रिका का मूल उद्देश्य अप्रकाशित शोध कार्यों को प्रकाश में लाना तथा संग्रहालय एवं पुरातत्त्व के क्षेत्र में चल रहे शोध कार्यों के परीक्षण के लिये विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करना है।

शोध पत्रिका के प्रस्तुत अंक में कुल 22 विद्वानों के शोध-पत्र प्रकाशित किये जा रहे हैं। जो इतिहास, शैल चित्रकला, पुरातत्त्व, प्रतिमा विज्ञान, मुद्राशास्त्र, संग्रहालय विज्ञान आदि विषयों से सम्बन्धित हैं। संग्रहालय परिवार का प्रयास होगा कि यह क्रम भविष्य में अनवरत् रूप से जारी रहे।

पत्रिका में प्रकाशित शोध पत्र उपलब्ध कराने के लिए मैं सभी विद्वानों एवं शोधार्थियों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ कि उन्होंने अपना बहुमूल्य समय देकर शोध-पत्र जैसे गम्भीर कार्य को सम्पादित किया। उनसे भविष्य में भी इसी प्रकार के सहयोग की कामना रहेगी।

श्रीमती अरूण कुमारी कोरी, माननीय संस्कृति राज्य मंत्री (स्वतंत्र प्रभार), उत्तर प्रदेश एवं श्रीमती अनीता सी. मेश्राम, आई.ए.एस, सचिव, उ.प्र. शासन, संस्कृति विभाग के उत्साहवर्धन के परिणामस्वरूप इस पत्रिका का पुनः प्रकाशन सम्भव हो सका है। श्री राम विशाल मिश्र, आई.ए.एस, विशेष सचिव, उ.प्र. शासन, संस्कृति विभाग के प्रति मैं आभारी हूँ, जिन्होंने इस शोध पत्रिका के प्रकाशन हेतु उत्साह का संचार किया।

पत्रिका के इस अंक के प्रकाशन में पत्रिका के दोनों सह-सम्पादकों, राज्य संग्रहालय, लखनऊ के अधिकारियों एवं कर्मचारियों का बहुविधि सहयोग प्राप्त हुआ है, जिसके कारण पत्रिका का स-समय प्रकाशन सम्भव हो सका है। इसके लिए मैं उन्हें साधुवाद देता हूँ।

'संग्रहालय पुरातत्त्व पत्रिका' की **नवीन श्रृंखला** का **द्वितीय अंक** आप के समक्ष है, जो निश्चय ही आप सब को देश-प्रदेश में हो रहे शोध कार्यों से परिचित करायेगा।

सम्पादक
डॉ. अजय कुमार पाण्डेय
निदेशक
राज्य संग्रहालय, लखनऊ

21 मार्च, 2015
नव संवत्सर
चैत्र शुक्ल 1, सं. 2072
लखनऊ

संग्रहालय पुरातत्त्व पत्रिका Bulletin of Museums & Archaeology

अनुक्रमणिका
CONTENTS

मथुरा और मथुरा कला में इन्द्र की पृष्ठभूमि

स्व. डॉ. रमेश चन्द्र शर्मा*

इन्द्र का मथुरा तथा मथुरा कला से प्राचीन काल में घनिष्ठ संबंध था। आज यह देवता भले ही उपेक्षित हो गए हों किन्तु एक समय था जब कि इनका वर्चस्व सर्वोपरि था। प्राचीन साहित्यिक संदर्भों में मथुरा को इन्द्रपुर के नाम से स्मरण किया गया है जो इस तथ्य का परिचायक है कि कभी यहां इन्द्र की पूजा होती थी।[1]

वैदिक वाड्.मय में इन्द्र सर्वाधिक प्रभावी देवता के रूप में प्रतिबिंबित हुए। ऋग्वेद में 250 मंत्रों में इन्द्र की कीर्ति का विवरण है। यदि अन्य देवताओं के साथ भी इन्द्र के उल्लेख की चर्चा की जाय तो मंत्रों की संख्या 300 हो जाती है।[2] वैदिक साहित्य में इन्द्र को भिन्न परिस्थितियों व स्वरूपों में वर्णित किया गया है। वह महान् पराक्रमी, वज्रधारी (वज्रभूत) और दानवों के संहारक के रूप में प्रधान देवता हैं।[3] कभी–कभी उन्हें धनुष और बाण लिए भी बताया है।[4] एक दो स्थानों पर उनके हाथ में अंकुश की भी चर्चा है।[5]

इन्द्र को न केवल सोम के लिए अत्यन्त तृषित और व्याकुल रूप में चित्रित किया गया है। अपितु सोमपान के बाद वह प्रमत्त और विचित्र स्थिति में पहुंच जाते हैं। उनकी सोम पान की क्षमता देवताओं में सर्वाधिक है।[6] सोम पान के बाद उन्हें बैल और भैसों का आहर करते हुए भी बताया गया है।[7] इस प्रकार इनका स्वरूप किसी दानव से कम नहीं प्रतीत होता। संभव है उनकी इस भयानक और गर्हित प्रवृत्ति के कारण इन्हें कभी–कभी असुर की उपाधि भी दी गई है।[8] यह भी चर्चा है कि सोम से अत्यधिक प्रमत्त होने के कारण इन्होंने अपने पिता तक की भी हत्या कर दी।[9]

इन कुछ अवगुणों के होते हुए भी इन्द्र वैदिक युग में मूर्धन्य देवता के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वह शौर्य, पराक्रम, वैभव, वर्षा, तेज आदि के प्रतीक हैं और विष्णु उनके एक विश्वासपात्र सहायक हैं।[10] वैदिक काल में इन्द्र के सोमशायी स्वरूप के प्रति भी उदार दृष्टि कोण अपनाया गया है और कालान्तर में सोम मादक होने पर भी अमृत्व प्रदान करने वाला मान लिया गया।

मूर्तिशास्त्र और कला के अध्येताओं के लिये वैदिक साहित्य में इन्द्र संबंधी जो आख्यान हैं उनमें से कुछ विशेष महत्व के हैं क्योंकि कालान्तर में यही विवरण लौकिक साहित्य में कुछ भिन्न रूप से अवतरित हुआ है।

इन्द्र का वज्र धारण करना स्पष्ट रूप से वैदिक परम्परा है जो न केवल लौकिक साहित्य में प्रचलित रही अपितु माथुरी कला में इसका यथावसर चित्रण होता रहा किन्तु उनका धनुर्धारी रूप लुप्त हो गया।

इन्द्र को माता के पार्श्व भाग से प्राकृतिक रूप से उत्पन्न हुआ बताया गया है।[11] विद्वानों का

---

* पूर्व निदेशक, राज्य संग्रहालय लखनऊ

अनुमान है कि मेघों के किनारों से उत्पन्न तड़ित प्रकाश के कारण यह धारणा बनी होगी।[12] जिसे बौद्ध दृश्यों में बुद्ध को जन्म के समय माया देवी की कृक्षि से जन्म लेता दिखाते हैं और उस अवसर पर इन्द्र नवजात शिशु को स्वीकार करने की मुद्रा में हैं। वैदिक इन्द्र की जन्म कथा से बुद्ध जन्म कथा किस प्रकार प्रभावित हुई यह एक विचारणीय और रोचक प्रसंग बनता है।

ऋग्वेद में इन्द्र ने जिन दैत्यों पर आक्रमण किया है उनमें इन्द्र का नाम तो बार–बार आता ही है।[13] किन्तु सर्प (अहि) का भी उल्लेख है जो इन्द्र के कार्य में बाधा उत्पन्न करता है और उसका नियमन करना आवश्यक हो जाता है।[14] इस कथा में संभवतः भविष्य की बौद्ध कथा के उस प्रसंग का बीज छिपा है जिसमें वज्रपाणि द्वारा अपलाल नाग का दमन किया जाता है और गंधार शिल्पियों के लिए यह एक रोचक विषय बन गया है।[15]

एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उल्लेख यह है कि इन्द्र पर्वतों को विदीर्ण कर जलधाराएं प्रकट करते हैं और गायों को ले जाते हैं।[16] एक स्थान पर इन्द्र को सोम तथा गायों का विजेता कहा है।[17] इस वैदिक कथा का विस्तार कालान्तर में इन्द्र द्वारा ब्रज पर निरन्तर वृष्टि के अनन्तर गायों का हरण आदि रूप में हुआ। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जलधाराओं की तुलना रंभाती हुई गायों से की गई है।[18] कभी–कभी ऊषा की रश्मियों को गौशाला से निकलती हुई गायों के समान बताया गया है।[19] अन्यत्र इन्द्र को गोपति और गविष्टि (गायों की इच्छा वाला) कहते हुए उनके युद्धों का उद्देश्य गायों का संग्रह माना है।[20] एक स्थान पर पणियों की गायों को इन्द्र द्वारा बंदी बनाए जाने का उल्लेख है।[21] कुल मिलाकर यह प्रसंग श्रीकृष्ण व इन्द्र की प्रतिद्वंदिता की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं जो कालान्तर में बहुत लोकप्रिय हुई और वज्र के लिए अविस्मरणीय घटना बन गई।

वैदिक साहित्य में इन्द्र के वृहत् आकार का भी उल्लेख है तद्नुसार पृथ्वी तथा आकाश जैसे असीम लोक उनकी मुट्ठी में समा गए।[22] एक स्थान पर दोनों लोकों को इनके अर्धभाग के समान बताया है।[23] आकार में इन्हें आकाश, पृथ्वी व वायु से बड़ा माना है।[24] आकाश और पृथ्वी तो इनके कटिबंध के लिए भी कम हैं।[25] अन्यत्र बताया है कि यदि पृथ्वी दस गुने आकार की हो तो भी इन्द्र के बराबर ही हो पाती।[26] साथ ही यदि इन्द्र के पास सौ पृथ्वी और सौ आकाश होते और एक हजार सूर्य भी इन्द्र के समान होते और दोनों लोक उनके बराबर ही रहते।[27] निश्चय ही यह सब प्रसंग आकार की अपेक्षा इन्द्र के प्रभाव व महत्व को सूचित करते हैं तथापि आकार संबंधी इस कल्पना ने आगे विष्णु के त्रिविक्रम रूप को जन्म दिया और इस प्रकार की मूर्ति बनाने का श्रेय सर्वप्रथम मथुरा के शिल्पी को ही मिला।[28] इन्द्र के अनेक पराक्रम कालान्तर में विष्णु में समाहित हो गए।

ऋग्वेद में इन्द्र की मूर्ति बनाए जाने की भी सूचना मिल जाती है[29] और ऐसी स्वर्ण निर्मित मूर्ति का गायों से निष्क्रिय अर्थात् आदान प्रदान का उल्लेख है। यद्यपि कुछ विद्वान और विशेष रूप से जितेन्द्र नाथ बनर्जी इस अभिमत से सहमत नहीं हैं।[30] यहाँ वज्रधारी इन्द्र से रक्षा अभिप्रेत है और प्रस्तर में इस प्रकार की मूर्तियाँ मथुरा कला में आरंभिक चरण में बनने लगी थीं।[31]

यहाँ यह उल्लेख कर देना उपयुक्त होगा कि ईरान के अवेस्ता में तूफान इन्द्र का नाम

बेरेशुघ्त है जो दो बार आया है[32] किन्तु इसमें स्वरूप का अंकन सीमित व संक्षिप्त है। मथुरा क्षेत्र ईरान व अफगानिस्तान की तत्कालीन संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित रहा और कला के प्रतीकों व मानकों का पर्याप्त आदान प्रदान हुआ। ऐसी स्थिति में इन्द्र दोनों संस्कृतियों के समानधर्मी देवता के रूप में समादृत हुए होंगे।

शतक्रतु के नाम से इन्द्र का ऋग्वेद में लगभग 60 बार स्मरण किया गया है[33A] किन्तु यह सिद्ध नहीं होता कि यह नामकरण उनके द्वारा सौ यज्ञों को सम्पन्न करने के कारण किया गया था। संभव है सौ अथवा असीम शक्तियों से युक्त होने के कारण इन्द्र को शतक्रतु कहा गया है।[33B] महाकाव्य में यह शब्द शत यज्ञ कर्ता इन्द्र के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।[34] लौकिक साहित्य में भी इन्द्र के लिए शतक्रतु शब्द रुढ़ि बन गया तथा अन्य कोई देवता या व्यक्ति इसका पात्र नहीं रहा।[35] लौकिक साहित्य में और विशेष रूप से बौद्ध ग्रन्थों में इन्द्र के लिए बारम्बार शक्र शब्द का प्रयोग हुआ।[36] यह एक विचारणीय प्रसंग है। संभावना यह है कि शक्र शब्द शतक्रतु का सूक्ष्म संस्करण है। शतक्रतु दो शब्दों की संयुक्त उपाधि है शत और क्रतु अर्थात् सौ यज्ञ। इन दो शब्दों में से दोनों के प्रथम अक्षर ग्रहण कर लिए गए प्रतीत होते हैं और दोनों के बाद के दो अक्षर अर्थात् ''त'' छोड़ दिए गए। परिणामतः 'शतक्रतु' का 'शक्र' शेष रह गया। अनुमान है कि यह इन्द्र के अवमूल्यन की प्रक्रिया का एक अंग था। शक्र से इन्द्र से 'शतक्रतु' होने का सहसा बोध नहीं होता और यज्ञ विरोधी बौद्ध और जैनों को इन्द्र का शतक्रतु रूप में लोकप्रिय बना रहना अभीष्ट हो भी कैसे सकता है। इस प्रकार 'शक्र' शब्द मथुरा के तत्कालीन समाज की वैचारिक क्रान्ति, चिन्तन मन्थन और स्वाभाविक मनोदशा का विस्फोट प्रतीत होता है।

महाकाव्य युग में इन्द्र कुछ संक्रमण की स्थिति में रहते हैं। एक ओर जहाँ उनका पराक्रम, वैभव और रक्षा के प्रधान अधिष्ठातृ देवता के रूप में स्मरण हुआ है वहीं उनके अवगुणों और पराजयों के भी अनेक उल्लेख हैं। वर्चस्व का आसन हिलने से लड़खड़ाते इन्द्र अब आक्रामक और ओजस्वी नहीं रह जाते और वह स्वयं अपनी गद्दी की रक्षा करने व प्रतिष्ठा बचाने में तत्पर प्रतीत होते हैं। उनके अनेक प्रतिद्वन्दी मैदान में उतर आए हैं और उनसे मोर्चा लेने के लिए उन्हें विभिन्न प्रकार की कूटनीति का सहारा लेना पड़ता है जो वैदिक युग के इन्द्र के लिए कल्पनातीत बात थी। विश्वामित्र का तप भंग करने के लिए वह मेनका अप्सरा को भेजते हैं।[37] इसी प्रकार त्रिशरा की तपस्या को नष्ट करने के लिए भी उन्हें अप्सराओं का सहारा लेना पड़ा।[38] गीता के विभूतियोग नामक दशम अध्याय में देवताओं में प्रधान इन्द्र का नाम उल्लेख है (श्लोक 22) साथ ही उनके वाहन ऐरावत (श्लोक 27) और आयुध वज्र को भी स्वतंत्र विभूति माना गया है (श्लोक 28)।

इन्द्र की कामुक प्रवृत्ति का विस्फोट भी महाभारत में कई स्थानों पर हुआ है। तिलोत्तमा के रूप से मोहित होने पर इन्हें सहस्त्रनेत्र होने का शाप भोगना पड़ा।[39] सहस्त्र नेत्र स्वरूप को अभिव्यक्त करती कुछ कलाकृतियाँ कुषाण युग में मथुरा में बनी।[40] गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या के साथ इन्द्र के बलात्कार की गूँज संस्कृत साहित्य में प्रायः प्रतिध्वनित हुई है और उसका सूत्रपात महाभारत से ही आरम्भ हुआ प्रतीत होता है।[41] इस घृणित काण्ड से क्षुब्ध गौतम ने इन्द्र को शाप

दिया जिससे उनकी दाड़ी और मूंछ हरी हो गयीं। इसी प्रकार विश्वामित्र के शाप से इनका अण्डकोष समाप्त हो गया तथा भेड़े का अण्डकोष जोड़ा गया।[42] महर्षि देव शर्मा की पत्नी रुचि के प्रति भी असंयत व्यवहार करने के कारण इन्हें कड़ी डाट पड़ी।[43]

महाभारत में इन्द्र स्वर्ग से नीचे उतर कर प्रायः लौकिक धरातल पर आ खड़े होते हैं और मनुष्यों के साथ मानवोचित व्यवहार करते हैं। कुन्ती के गर्भ से अर्जुन के जन्म के यही कारण बने।[44] उसकी रक्षा एवं विजय के लिए इन्हें ब्राह्मण वेश धारण कर कर्ण से कवच और कुण्डल की याचना करनी पड़ी।[45] इन्द्र के सम्मान को सबसे अधिक आघात श्रीकृष्ण के साथ प्रतिद्वंदिता में पहुँचा और वह एक विजित एवं पराभूत सामन्त के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।[46] यही नहीं इनका पुत्र अर्जुन भी इन्हें परास्त कर देता है।[47] रावण के पुत्र मेघनाद ने इन्द्र को हराने पर "इन्द्रजित" उपाधि धारण की थी।[48] स्कन्द ने भी इनका मान मर्दन किया।[49] इसी प्रकार दधीचि ने भी संकट ग्रस्त इन्द्र की अपने बलिदान से रक्षा की।[50] कुछ समय के लिये इन्द्र को स्वर्ग से पदच्युत होना पड़ा और नहुष ने स्वर्ग का राज्य सम्भाला किन्तु इन्द्र बनने पर नहुष की बुद्धि में भी सत्तामद और कामुकता का समावेश हो गया।[51]

एक और विचारणीय प्रसंग सोमपान का है। वैदिक युग का सोम मद्य से पृथक प्रतीत नहीं होता और इन्द्र एक मद्यपायी के रूप में प्रमत्त रहते हैं किन्तु महाभारत में इन्द्र को एक दो स्थानों पर ही सोमपान करते हुए दिखाया गया है। विश्वामित्र के साथ वह सोमपान करते हैं।[52] अनुमान है कि वैदिक युग का सोमरस महाकाव्य युग में अमृत के रूप में रुपानतरित हुआ है[53] और इसके लिए इन्द्र तथा गरुड़ में संघर्ष होता है।[54]

मूर्तिशास्त्र की दृष्टि से एक विचारणीय बात यह है कि वैदिक युग में इन्द्र को रथारूड़ बताया गया है और इस रथ में दो से लेकर ग्यारह सौ तक घोड़ों की संख्या का उल्लेख है।[55] दूसरी ओर महाभारत युग में इन्द्र का प्रधान वाहन ऐरावत है जिसकी प्राप्ति समुद्र मन्थन से हुई बताई गई है।[56] आगे ब्राह्मण तथा बौद्ध ग्रन्थों में इन्द्र के साथ ऐरावत को भी मान्यता मिली।[57] और मथुरा के शिल्पियों ने इसी रूप में इन्द्र देव का अंकन किया है।[58] बाज रूप में उशीनर से और शिवि से कबूतर के बराबर मांस मॉगना[59] बौद्ध जातक कथाओं के प्रिय प्रसंग बन गए और मथुरा कला में भी इस प्रकार के कथानकों को स्थान मिला।[60]

जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है बौद्ध साहित्य में इन्द्र शक्र के नाम से विख्यात हैं। वह देव गुरू हैं, शची पति हैं, वज्रधारी हैं, देवता तथा नागों द्वारा पूजित हैं।[61] किन्तु अन्य प्रसंगों में वह मात्र लोकपाल के रूप में वर्णित हैं।[62] बुद्ध जन्म के अवसर पर 'शक्रो देवानामिद्रो' बताया है।[63] किन्तु जहाँ यज्ञ, स्वर्ग और देवता सम्मान नहीं पा सके वहाँ इन्द्र ही कैसे प्रतिष्ठित हो सकते थे। फलतः बौद्ध साहित्य और कला में इन्द्र एक पार्श्व या परिचारक देवता के रूप में ही बुद्ध के प्रति नतमस्तक रहे। इस सेवा धर्म का उन्होंने शक्र और वज्रपाणि रूप में निर्वाह किया जिसकी मूर्तियां गंधार व मथुरा दोनों शैलियों में बनी।[64] इनमें इन्द्र अपने संगीतज्ञ सखा पंचशिख गन्धर्व के साथ वज्र लिए कभी हाथ जोड़े और कभी अमृत घट लिए रहते हैं। ऊँचा मुकुट उनका मुख्य परिधान है।

बौद्ध धर्म की भांति जैन धर्म में भी इन्द्र एक उपेक्षित देवता हैं। कल्पसूत्र की परम्परा है कि स्वर्ग के उपभोक्ता इन्द्र के पट्ट महिषियों, तीन परिषद, सात सेना आदि हैं।[65] इन्द्र पूजा का विवरण इन्द्र मह के नाम से जैन साहित्य में मिलता है[66] जो आषाढ़ पूर्णिमा को होता था। इसमें लोग भरपुर खाते पीते, नृत्योत्सव व आमोद प्रमोद करते थे[67] जिसे आज की भाषा में रंगारंग कह सकते हैं। काम्पिल्यपुर में इन्द्र महोत्सव के लिए राजा दुर्मुख ने नागरिकों से इन्द्र केतु स्थापित कराया जो अनेक प्रकार अलंकृत व सुशोभित किया गया।[68] यह इन्द्र केतु पूर्व चर्चित इन्द्र ध्वज या इन्द्र यष्टि की भांति ही रहा होगा। बृहत्कल्प भाष्य के अनुसार हेमपुर में भी इन्द्र मह का आयोजन होता था जिसमें कुमारियां अपने सौभाग्य के हेतु बलि, पुष्प, धूप आदि से इन्द्र की पूजा करती थी।[69] अन्तःवृद्दशा के अनुसार पोलासपुर में भी इन्द्र महोत्सव होता था।[70] इन्द्र मह के आमोद–प्रमोद की तुमूल ध्वनि से जैन साधू स्वाध्याय नहीं कर पाते थे।[71] जैन परम्परा के अनुसार भारत चक्रवर्ती को इन्द्र ने अलंकारों से मण्डित अपनी उंगली दी। उसी विशेष घटना को लेकर आठ दिन तक उत्सव मनाया गया।[72]

आरम्भिक मथुरा कला में जैन शिल्प में इन्द्र नहीं दिखाई देते। किन्तु महावीर के जन्म का ऐसा प्रसंग अवश्य है जिसमें इन्द्र के पदाति सेनापति नैगमेश ब्राह्मणी देवनन्दा के गर्भ से क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में महावीर के भ्रूण की स्थापना इन्द्र के आदेश से करते हैं और इन्द्र को इसकी सूचना देते हैं किन्तु इस प्रस्तर खण्ड में दुर्भाग्य से इन्द्र का प्रदर्शन अब शेष नहीं बचा।[73] जैन चैत्यालयों के समक्ष महेन्द्र ध्वज या इन्द्र ध्वज स्थापित करने का विधान था।[74] रायपसेणिया में इस प्रकार के अनेक स्तम्भों का उल्लेख है और यह अनुमान सही है कि इस आगम ग्रन्थ के रचयिता ने मथुरा का कंकाली स्थित विशाल जैन स्तूप अवश्य देखा होगा।[75] जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है मथुरा के जैन शिल्प में इन्द्र यष्टि का अनुमान लगाया जा सकता है।[76] डा. वासुदेव शरण अग्रवाल ने तो स्थापनाचार्य या स्थापना को इन्द्र यष्टि या वैजयन्ती माना है।[77] मेरे विचार से श्रीवत्स और कैडयूकस पहचाने वाले कुछ मंगल चिन्हों में इन्द्र यष्टि का प्रभाव सुस्पष्ट है।

जैन धर्म में इन्द्र एक सहायक देवता के रूप में ही प्रतिष्ठा पा सके हैं और बौद्ध धर्म की भांति जैन धर्म में भी उन्हें पर्श्वचरया परिचायक रूप में स्वीकार किया है।[78]

ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्मों के साहित्य व शिल्प में इन्द्र से संबंधित विहंगम सर्वेक्षण के अनन्तर मथुरा शैली में बनी इन्द्र की प्रतिमाओं का अवलोकन कर लिया जाये। इनमें से कुछ को आज ही इन्द्रासन पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया जा रहा है।

यदि विद्वान् मुनियों से इन्हें समर्थन की शक्ति मिली तभी इन्हें यह गौरव प्राप्त हो सकेगा अन्यथा नहुष की भांति इन्हें पुनः धरातल देखना पड़ सकता है। इन्द्र की यही स्थिति होती रही है अतः इनकी प्रतिमाएं भी शिखर पर आरुढ़ न हो सकें तो कोई विशेष बात नहीं है।

संदर्भ

1. आवश्यक चूर्णि 2 पृष्ठ 193 तथा जगदीश चन्द्र जैन कृत जैय आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ. 183
2. A.A. Mecdenal-Vedic Mythology 1971 p. 54
3. ऋग्वेद 1. 32. 6.18
4. वही 8.45
5. वही 8.17 तथा अथर्ववेद 6.82
6. ऋग्वेद 2.16, 1. 104
7. वही 10.28, 6.17, 8.66
8. वही 1.174, 8.79
9. वही 4. 18
10. वही 17. 44
11. वही 4.18
12. संदर्भ संख्या 2 पृष्ठ 56
13. ऋग्वेद 1.68
14. वही 1.64
15. N.P. Joshi & R.C. Sharma, Catalogue of Gandhar Sculpture in the State Museum, Lucknow pp. 65-66, fig. 20
16. ऋग्वेद 1.57, 0.89
17. वही 1.32, 2.12
18. वही 1.32
19. वही 1.33, 1.61
20. वही 1.16, 1.101
21. वही 10.67
22. वही 3.30
23. वही 6.30, 10.119
24. वही 3.46
25. वही 1.173
26. वही 1.52
27. वही 8.89
28. मथुरा संग्रहालय, संख्या 70, 58 गुप्तकाल, लखनऊ संग्रहालय संख्या–जे. 610 कुषाण काल
    N.P. Joshi, Catalogue of Bramanical Sculptures in the State Museum, Lucknow, 1972, p.80, fig.1
29. ऋग्वेद 4. 24
30. Development of Hindu Iconagraphy, 1956, p. 53-54.
31. मथुरा संग्रहालय संख्या ई. 24

32. संदर्भ संख्या 2 पृ. 66
33A. संदर्भ सं. 2 पृष्ठ 58
33B. वही
34. शल्य पर्व 49. 2–4
35. रघुवंश 3. 49
36. ललित विस्तर 6.27, 7. 26–27, 15.81, 15.122. 15.152
37. आदि पर्व 71. 21–26
38. उद्योग पर्व 9. 9–12
39. आदि पर्व 210.27
40. मथुरा संग्रहालय संख्या 15.1178
41. शान्ति पर्व 266. 47–51
42. वही 242.23
43. वही 287
44. आदि पर्व 63. 116. 122.35
45. वही 67.1 44–45
46. सभापर्व 38.29
47. आदि पर्व 227.23
48. वन पर्व 228.7
49. वही 287
50. वही 92.6
51. उद्योग पर्व 11. 9–19 तथा 15.22
52. वन पर्व 47.17
53. S.M. Gajendra, Indra in the epic precding & an transensi of al India riential Confrence Nagapur University-195, P. 82
54. आदि पर्व 32
55. ऋग्वेद 2.18, 4.46, 6.47, 8.1
56. आदि पर्व 18.40
57. कुमार संभव 5.80
58. मथुरा संग्रहालय मूर्ति संख्या एम.3 और 46.3226
59. वन पर्व 131, 23–24, 197.20
60. मथुरा संग्रहालय सं.
61. ललित विस्वर 15.152
62. वही 6.27, 7.27
63. वही 7.27 (गद्य)
64. लखनऊ संग्रहालय सं.बी. 19, बी. 23, और बी 208 का भाग। तीनों कलाकृतियां मथुरा शैली की हैं।
65. जगदीश चन्द्र जैन कृत जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, 1965, पृ. 430

66. आवश्यक वृर्णि पृ. 213
67. निशीथ सूत्र 19. 11–12
68. ज्ञातृ धर्म कथा 1, पृ. 25
69. बृहत्कल्प भाष्य 4.5153
70. अन्तःवृद्दशा 6, पृ. 40
71. संदर्भ सं. 65 पृ. 431
72. संदर्भ सं. 66
73. लखनऊ संग्रहालय सं. जे. 626, Smith's Jain Stupa pl.XVIII.
74. U.P. Shah, Studies in Jaina Art, 1955, p. 57-58
75. R.C. Sharma, Art Data in Eayapaseniya, Bulletin of Museums & Archaeology in U.P. No.9, June 1972
76. Smith's Jain Stupa etc. pl. XXXVIII a fig. 2, 3 Pl. LXXII, fig. 2,5, pl. LXXXII, fig. 3, 4,
77. संदर्भ सं. 74 पृ. 80
78. U.P. Shah, Begimings of Jaina Iconegraphy, Bulletin of Museums & Archaeology in U.P. No. 9, June 1972, p. 11.

❑❑

The Artists and their Creativity
(With Special reference to Bundelkhand)

Dr. S.D. Trivedi* (Late)

The role of a patron, a dedicator, a motivator, a monk or a priest is quite important in the making of a piece of art but ultimately it is the artist who gives it shape and brings it close to life. The skill of the craftsman, the spectrum of his imagination, the balance of his stroke, the soothing visual effect, and many other parametres within which he works can be assessed from a proper analysis of the artifact. Also, there were guilds of artists, teachers and disciples, and craftsmen of different grades which had a direct bearing on their creativity.

Resources and Endeavour

First of all, there is the material or medium needed for any creation which is provided by other responsible persons. It is quite possible that artists had a suggestive role in order to decide upon the feasibility and suitability of the art work in a particular medium. E.g. it had to be decided whether it would be a finished wall, or basali or stone piece for chiseling a sculpture. This is well illustrated in the reliefs of Khajuraho where the massive art work of great magnitude was done by a large number of artists. The labourers are depicted carrying a stone block in the Chitragupta temple of khajuraho[1]. The illustrating relief[2] with the sculpting work is now in the Archaeological Museum Khajuraho (Accn. no. 1315). It portrays a stone-cutter at work with hammer and chisel in his hands with three persons nearby who are probably going to help him. To his left, six labourers are carrying a very heavy stone block with the help of benhegi (a sling for carrying things on shoulders) and rope. This shows that the stone workers play a key role in providing a stele suitable for carrying out the work of chiseling.

As is attested by several existing instances, first the outlines are drawn for desired art work in sculpture[3] or painting. A preliminary drawing or line-sketch *(hastalekha)* is an essential prelude to painting or sculpting[4]. The unfinished miniatures and figural sketches on stele confirm the procedure usually adopted by the artists. A stone block with a beautiful sketch of a woman is lying at Deogarh[5] (Dist. Lalitpur). It is also possible that the sketching was done by the master craftsman because it was actually a base work on which the work of chiseling was to be done. Sketching was done by a sharp instrument and after that the chiseling was undertaken by a chisel *(chheni)* and a hammer *(hathoudi)*. Since

---

***Ex. Director, State Museum, Lucknow Res-B-1/7, Sector- G, Gyan Vihar Aliganj, Lucknow**

no such tools are found in any archaeological excavation, nothing can be said about their shape and form. It may also be pointed out that the sculptor must have found it difficult to work on a hard stone like granite whereas the soft stone required more balanced strokes. The sculptors followed the instructions of monks, masters, priests, patrons but, the decorative part seems to be by and large their own imagination. They stencilled floral and geometrical designs on the walls of Khajuraho temples[6] and then proceeded with the full sculpture.

Talamana

The aspect of proportion is the most important for producing qualitative work. The significance of scheme of proportion *(mana-yojana)* was extremely important as according to *Sukraniti*[7] disproportionate and fragmentary images could not be kept in a temple.

देवालये मानहीनां मूर्ति भग्ना न धारयेत।

The instructions regarding iconometory (talamana) are given in some of the iconographic texts but there is no unanimity in the formulae given therein. In many cases, the measuring unit is accepted as a finger *(angula)*[8] that varies from person to person. Several texts mention that the image of a deity should be in *navatala*[9] which is roughly equivalent to 108 angulas. But all the images were not made in the same size, hence this prescription has not meaning at all. Besides this, the injunction were meant for only divine images and there were no instructions for other figures like animal, birds etc. Under these circumstances, it was for the sculptor himself to decide the proportions of the figures on his own. Whenever the judicious talamana was not followed, the aesthetic appeal was adversely affected.

Composition

Like *talamana,* the composition is equally important because this is what produces the desired total effect in an art-work. It proves the talent and skill of an artist if the proper attitude and gestures are adopted conducive to the subject. In narrative scenes, it is necessary to convey the message through the visual communicative gestures and poses. To generate the intended sense *(rasa-nispatti)* was always a challenge that the artists of different ages had to face. This has been achieved more effectively in miniatures and wall paintings because of the use of colours which have comparatively more attention-attracting and soothing effect. The artists used to decide the colour scheme before actually starting the work. The ususal practice was to tentatively mark the name of colours on the figures to be used before filling them in[10].

Time and Place

If we look at scenario of Indian art through the ages, we find that any one style was mainly prevalent in a particular period. For example, in the Sunga period, a particular style remains unchanged across the country in the majority of artworks executed. It is amazing to note that in spite of long distances, dearth of communicative means and under different wherewithals, the sculptural art of any given period has many similarities. This is the case more or less witi Kusana art and the art of Gupta age. The times have their own influence on the creativity. The other factor relates to the place that effects the creation. The artist definitely gets inspiration from what he sees around himself and what he experiences. The regional outlook is more prominent in the mediaeval period when the country was politically divided in small principalities.

Names of Artists

It has been a great tradition in Ancient India that great authors, poets and artists shied away from letting their identities be disclosed Apparently, they did not hanker after name, fame or an acknowledgement of greatness in their chosen field.

There are, numerous inscribed sculptures and paintings but majority of them do not bear the names of artists. At the same time, exceptions do exist and sometimes we find name of the artist inscribed on some pieces of art. However, even in such cases detailed information about these artists is wanting.

Right from 2nd century B.C. we come across some nemes of sculptors of high repute. A colossal image of Yaksha from Parakham[11] (Dist. Mathura) has the name of Gomitaka, pupil of Kunika, in one line inscription engraved on its pedestal. This is the earliest known image of Mathura and is supposed to represent the folk art of Mauryan period. A Yakshi[12] from village Nagla Jhinga belonging to the same period has three line inscription that mentions the name of Naka, also pupil of kunika. It shows that Kunika was a great sculptor who had many disciples, at least two of them known for chiseling of huge sculptures with admirable skill and care. In the following centuries we find many more names of craftsmen in the inscriptions engraved on images and on other surfaces.

In the context of Bundelkhand, we do find some names of sculptors in the inscriptions of Chandela Kings, particularly on the pedestal writings of some images. Three sculptures[13] found from Bauddha Tila, Mahoba, bear one line inscriptions at the bottom of the statues. They were discovered buried in earth during the course of excavation and because of that they are in a perfect state of poreservation[14]. These sculptures are regarded as beautiful and marvelous examples of Chandela art. Particularly, the image of Simhanada Avalokiteswara[15]

is a masterpiece of mediaeval art. Its inscription in Nagri characters is engraved only for giving information about its sculptor named Chhitanaka[16] who was well-versed in the science of all arts. The versatile and meritorious artist Chhitanaka was referred in two other images of Padmapani or Lokanatha[17] Avalokiteshwara and Buddhist goddess Tara[18].

In Chandela inscriptions, the word *rupakara* is frequantly used for sculptor. *Other words like ṣutradhara, chitrakara* are also mentioned in the inscriptions of mediaeval age. The Ahara Jaina image inscription of Vikrama samvata 1237 (A.D.1180) records the name of Papata[19] who was the vastusastrajna rupakara. He must have possessed the knowledge of science of architecture as well as sculpture[20]. The pedestal inscription of Jaina statue from Ahara (near Tikamgarh) refers to the construction of some *chaityala* in the 'victorius reign' of Paramardideva.

The other Jaina image[21] from khajuraho, bearing the date of Vikrama era 1215 (A.D. 1157-58) mentions the name of sculptor (rupakara) Ramadeva. The name of Ramadeva also occurs on an image of Jaina Tirhankara Padmaprabhanatha[22] from Mahoba. This colossal image is now housed in the Government Museum, Jhansi[23]. It is quite possible that both inscriptions refer to the same sculptor who was particularly adept in chiseling Jaina images.

Some artists were employed for engraving copperplates, which was supposed to be a specialized work. The name of Palhana is mentioned in the lehhavar copperplate[24] of Parmardideva of V.S. 1228. He was a copper-smith and his name also occurs in the Semra plates of the Chandela king.

Names of *Chitrakara* are also mentioned in some miniatures and illustrated manuscripts from Bundelkhand. The name of Kesari Singh is given in the colophon of *Astayama Chitravali* of Lucknow Museum[25]. It has come from Datia. It also mentions that this work of painting was done under the instructions of Mohan Singh who appears to have been a master artist. A miniature from Bundelkhanda style now in the collection of State Museum Lucknow mentions the name of Chitrakara Anju[26].

The evidence of inscriptions seems to suggest that the tradition of artisans had varied dimensions. It also indicates the existence of a well established *Guru-Shishya- parampara.* Apart from that, the artistic skill also comes from family background. Hence many artists must have inherited the skill and talent from their fathers and exerted to keep the family tradition alive. Though they had to work under the instruction of other people like donors, monks etc., the artists must have enjoyed great freedom of execution to make their art pieces beautiful.

References

1. Prakash, Vidya, Khajuraho, p.108, fig. 54
2. Ibid., fig. 53
3. An early example of such a hastalekha is found at Nagarijunikonda, Sivaramanurti, C., Indian Sculpture. Pl.2
4. In Kandariya Mahadeva temple of Khajuraho, two artists are seen busy in preparing the sketches on a stone slab. Khajuraho, p.109
5. This has been discovered by the author himself.
6. Khajuraho, p.108
7. शुक्रनीति, 4.521
8. बृहत्संहिता, 57–4; देवतामूर्तिप्रकरण, 2–1; शुक्रनीति, 4,409, मत्स्यपुराण, 257–160, अग्निपुराण, 44.2 आदि।
9. श्रीवास्तव, बलराम (सं.), रूपमण्डन, पृ. 24
10. Such unfinished paintings can be seen in the collection of the State Museum Lucknow.
11. Vogel, J.Ph., Catalogue of the Archaeological Museum at Mathura, p.136; Sharma, R.C., The Splendour of Mathura Art & Museum,p.66, fig.8
12. Chanda, R.P., A.I.S.R., 1922-23, p. 165
13. Dikshit, K.N., Six Sculptures from Mahoba, A.S.I. Memoir No.8
14. State Museum Lucknow, Acc. no. 0.224, 0.225 & 0.226
15. Agrawala, V.S., A Short Guide-Book to the Archaeological Section of the Provincial Museum Lucknow, p.17, fig.19
16. According to some schdess the name of artists in satana
17. Coomarswami, Anand, K., History of Indian and Indonesian Art, p.110 fig. 223
18. त्रिवेदी, एस.डी. बुन्देलखण्ड का पुरातत्व, पृ. 96, चित्र 48
19. Dikshit, R.K., Candellas of Jejakbhukti, p.199
20. In Kalachuri inscription, almost similar phrases are found to denote the qualities of the artists like 'sakala silpa nidhi' (repository of all mechanical art); vijnanika etc., Misra, R.N., Sculptures of Dahala and Dakshina kosala and their Background, pp. 130-132
21. E.I., vol.I, p. 153; A.S.R. vol. XXI, p. 61D, pl. XXD
22. Trivedi, S.D., Sculptures in the Jhansi Museum, p. 82, fig. 87
23. Government Museum, Jhansi, Acc. no. 80.20

24. Shastri, Hirananda, Catalogue of Archaeological Exhibits in the United Provincial Museum, Lucknow, Part I- Inscriptions, p. 32

25. State Museum Lucknow, Accn.no. 59.220

26. This information was given by Shri S.C. Rai, Museum Lecturer of SML

□□

उत्तरवैदिक साहित्य में राज्याभिषेक : एक विहंगम दृष्टि

प्रो. शैलेन्द्र नाथ कपूर*

वैधानिक तथा नैतिक दृष्टि से मनोनीत राजा को राज्याधिकार प्रदान करना राज्याभिषेक का मूल उद्देश्य था 'राज्याभिषेक' शब्द 'राज्य' एवं 'अभिषेक' शब्दों के योग से बना है। अभिषेक का अर्थ स्थान है। जिस प्रकार स्नान से मनुष्य स्वच्छ एवं पवित्र होता है उसी प्रकार राज्य सम्बन्धी स्नान से राजा में पवित्रता आती है। उत्तर वैदिक साहित्य प्रस्तुत प्रक्रिया का अक्षय भण्डार है।

वस्तुतः वैदिक युग में उत्तर–पश्चिम भारत में नितस्ता, असिक्नी, परूष्णी, विपाशा शतुद्रि सिन्धु एवं सरस्वती नदियों के तटवर्ती एवं अन्य भूभागों में अनेक छोटे–छोटे राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें राष्ट्रों की संख्या बहुत अधिक थी। कुछ राजा अपने कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व का निर्वाह भली भांति करते रहे होंगे जब कि अनेक राजा स्वेच्छाचारी हो गए होंगे। प्रजा द्वारा मनोनीत अथवा वंशानुगत राजा को विधिवत् राज्याधिकार प्रदान करने हेतु राज्याभिषेक का महत्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ हुआ। इस कार्य में वैदिक मन्त्रों द्वारा यज्ञ एवं कर्मकाण्डों का विकास हुआ। यजुर्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, सामविधा–न ब्राह्मण तथा गोपथ ब्राह्मण से इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यजुर्वेद की काठक एवं मैत्रायणी संहिताओं से भी राज्याभिषेकीय कर्मकाण्ड के अनेक पक्ष प्रकाशित होते हैं।

'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार भारतीय आर्यों का सर्वप्रथम अभिषिक्त राजा 'पृथुवैन्य' था। विधिवत राजा बनने हेतु राजसूय यज्ञ अनिवार्य बताया गया।[1] कुरु–पाञ्चाल शासकों ने राजसूय यज्ञ का विधिवत सम्पादन किया था। इस यज्ञ के अन्तर्गत रत्नहवींषि संस्कार, राज्य के जलस्रोतों से प्राप्त जल से स्नान, विविध देवताओं के निमित्त आहुतियों का कार्य, व्याघ्रचर्म पर आसीन होना, नवीन वस्त्रों का धारण करना, तथा अनेक महत्वपूर्ण तत्व सम्मिलित थे। सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश यह था कि राष्ट्र एवं राजा के सम्बन्धों की उपमा माता एवं पुत्र के सम्बन्धों के रूप में दी गई। राजा का पावन कर्तव्य राष्ट्र का सर्वाड़गीण विकास था। इसी सन्दर्भ में यजुर्वेद के कुछ अंश उदाहरणीय हैं–

'तुम्हें यह राष्ट्र दिया जाता है जनता के क्षेम (कल्याण) के लिए और सर्वविध पोषण तथा उन्नति के लिए।'[2]

राज्याभिषेक की प्रक्रिया में अध्वर्यु अथवा पुरोहित की विशिष्ट भूमिका होती थी। इस सन्दर्भ में शुक्ल यजुर्वेद में राज्याभिषेक के पूर्व पुरोहित और राजा के मध्य होने वाली वार्ता वैधानिक दृष्टि से अतिशय महत्वपूर्ण प्रतीत होती है। पहले पुरोहित राजा से कहता था–

'तू वीरता की योनि और नाभि है। कोई तेरी हिंसा न करे और न तू हम लोगों की हिंसा करे। नियमों का पालन करने वाला तथा विघ्नों का निवारण करने वाला व्यक्ति प्रजा में स्थैर्य प्राप्त करता

***पूर्व विभागाध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ**

है। सुकर्मा व्यक्ति साम्राज्य के योग्य होता है। मृत्यु से रक्षा कर। विद्युत से रक्षा कर। सूर्य देव के प्रकाश, अश्विनी कुमारों की भुजाओं, पूषा के हाथों और अश्विनी कुमारों की औषधियों से राष्ट्र के वीर्य और ज्ञान के लिए मैं तेरा अभिषेक करता हूँ। (राष्ट्र के) बल, श्री और यश के लिए इन्द्र की इन्द्रिय (शक्ति) से मैं तेरा अभिषेक करता हूँ।'[3]

पुरोहित के उत्तर में राजा का कथन निम्नवत् है–

'प्रजा की श्री मेरा शिर है, उसका यश मेरा मुख है, उसका तेज मेरे केश और श्मश्रु हैं।.... मेरी जिह्वा प्रजा के कल्याण की बात कहे। मेरी वाणी प्रजा की महत्ता की बात कहे। प्रजा का उल्लास मेरा मन है।... उसका मोद–प्रमोद मेरी उँगलियाँ हैं।... जनता में राजा प्रतिष्ठित हैं।'[4]

प्रस्तुत अंश से सर्वथा स्पष्ट है कि राजा प्रजा के कल्याण में सतत् तत्पर रहने का व्रत लेता था। यजुर्वेद में क्षत्रिय को राजा के रूप में प्रतिष्ठित करने का उल्लेख है। ब्राह्मण पुरोहित क्षत्रिय को राज्य प्रदान करने हेतु यज्ञ–वेदी पर बैठाकर यज्ञ, कराते हुए कहता है–

'हे सेचन जलतरंग! तू राष्ट्रदात्री (राष्ट्रदा) है। अमुक (क्षत्रिय) के लिए राष्ट्र प्रदान कर।[5]

राज्याभिषेक के कर्मकाण्डों का विवरण तैत्तिरीय संहिता तथा अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में कतिपय अन्तर के साथ मिलता है। प्रायः इन सभी ग्रन्थों में राज्याभिषेक को श्रेष्ठता का आधार माना गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में अनभिषिक्त राजा को निन्दनीय तथा अवैध कहा गया है।[6]

राज्याभिषेक सम्बन्धी कृत्यों में रत्नहवींषि संस्कार का अतिशय महत्व था। वस्तुतः राज्य के विविध वर्गों के प्रतिनिधि के रूप में रत्नियों की संख्या थोड़े अन्तर के साथ उत्तर वैदिक साहित्य में मिलती है। तैत्तिरीय संहिता में इनकी संख्या ग्यारह[7], मैत्रायणी संहिता में चौदह[8], तैत्तिरीय ब्राह्मण में बारह[9] तथा शतपथ ब्राह्मण[10] में भी बारह मिलती है। प्रत्येक रत्नी को राज्य के मुकुट में एक–एक रत्न (अस्येकं रत्नम्) कहा गया है। यदि शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित रत्नियों की सूची की समीक्षा की जाय तो उनके कार्यों को निम्न प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है–

सेनानी से तात्पर्य सेना के प्रधान अधिकारी से था। पुरोहित को अध्वर्यु कहते थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण में पुरोहित के लिए 'ब्राह्मण' शब्द आया है जो धार्मिक क्रियाओं का सम्पादन करता था। राजा क्षत्र या आसन का प्रतिनिधि होता था। महिषी से तात्पर्य राजा की प्रमुख रानी से है। प्राचीन भारतीय मान्यता में पत्नी अर्द्धांगिनी थी। तथा उसके बिना कोई यज्ञ पूर्ण नहीं होता था। इसी सन्दर्भ में वैदिक काल की राजा की चार प्रकार की पत्नियों का उल्लेख समीचीन प्रतीत होता है। पुत्रहीन पत्नी परिवृक्ती कहलाती थी। राजा को उसकी सहमति का भी ध्यान रखना पड़ता था क्योंकि राजमहल की गतिविधियों की उसे पूर्ण जानकारी रहती थी। वावाता राजा की प्रियतमा होती थी। अतः उसे भी रत्नी मण्डल में कुछ ग्रन्थों में स्थान प्रदान किया गया है। चौथी पत्नी पालागली होती थी जो राजकीय उद्देश्यों से राजा की विवाहिता होती थीं।

'सूत' का कार्य राजा एवं राज्यविषयक तथ्यों को संकलित करना होता था। कुछ विद्वान जैसे के.पी. जायसवाल उसे राजदरबार में वंशावली तथा विरुद सुनाने वाला मानते हैं।[11] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सूत नामक राजकर्मचारी का उल्लेख मिलता है जिन्हे एक हजार कार्षापण वेतन प्रतिवर्ष दिया जाता था।[12]

जनपद या राष्ट्र के अन्तर्गत विविध ग्रामों के प्रधान ग्रामणी कहलाते थे। सम्भवतः इन ग्रामों का एक प्रतिनिधि रत्नी के रूप में मान्यता प्राप्त रहा हो। मैत्रायणी संहिता में ग्रामणी के लिए वैश्यग्रामणी शब्द व्यवहृत है। अतः इसे ग्रामों से वैश्य वर्ण का प्रतिनिधि माना जा सकता है।

क्षतृ या क्षत्रिय सम्भव है सेना सम्बन्धी कार्यों में निपुण व्यक्तियों का प्रतिनिधि रहा हो जो रत्नीमण्डल का अविभाज्य अंग माना जा सकता है। संग्रहीत या संग्रहीता राजकोष का नियन्ता या संचालक प्रतीत होता है। डा. आर.एस.शर्मा इसे रथचालक मानते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इसके लिए सन्निधाता शब्द का उल्लेख मिलता है।[13]

भागदुध का प्रमुख कार्य प्रजा से कर संचय करके उसे राजकोष में संग्रहीत करना रहा होगा। यजुर्वेद[14] में भागदुध नामक एक कर्मचारी का उल्लेख मिलता है। गोदूहन करने वाला जैसे गाय से धीरे–धीरे दूध दुहकर पात्र में संचित करता है उसी प्रकार भागदुध गाय रूपी पृथ्वी से दूध रूपी भाग संचय करता है।

'अक्षाबाप' नामक रत्नी के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं है। संस्कृत में 'अक्ष' का शाब्दिक अर्थ पांसा है इस आधार पर अक्षावाप को द्यूत विभाग का प्रमुख अधिकारी माना जा सकता है। परन्तु यह तथ्य उचित प्रतीत नहीं होता। व्यापक अर्थ में प्रो. आर.एस. शर्मा अक्षावाप को खेलकूद अथवा मनोरंजन से सम्बन्धित करते हैं।[15] के.पी. जायसवाल के अनुसार यह अर्थविभाग का एक विशेष अधिकारी था, जो कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लिखित 'अक्षपटल' नामक पदाधिकारी के समकक्ष था।[16]

गोविकर्ता का अर्थ सामान्यतया वन विभाग का प्रमुख अधिकारी माना गया है। मैत्रायणी संहिता में 'गाविकर्तन', काठक संहिता में 'गव्यक्ष' तथा शतपथ ब्राह्मण में गोविकर्तन का उल्लेख मिलता है। इससे आखेटक अर्थ निकलता है। सम्भव है उत्तर वैदिक काल में कृषि को हानि पहुँचाने वाले वन्य पशुओं को मारना भी इनका कार्य रहा हो।

राजकीय संदेशों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने वाला राजकर्मचारी पालागल कहलाता था। वह लाल रंग की पगड़ी धारण करता था। उसके पास चमड़े का एक तरकश रहता था। यह आत्मसुरक्षा हेतु रहता होगा। राजनैतिक दृष्टि से ऐसे रत्नी की अत्यन्त उपयोगी भूमिका थी।

रत्नियों के घर जाकर राजा उन्हें रत्नहवि के रूप में कुछ न कुछ प्रदान करता था। यह उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित करने तथा उनके सहयोग की अपेक्षा की पुष्टि करता है। गाय अपनी

उपयोगिता की दृष्टि से सर्वेत्तम पशु मानी जाती थी। रत्नहवि के रूप में अधिकांशतः गाय देने का विधान था। शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित अंश के आधार पर विविध रत्नियों को दी जाने वाली रत्न हवि निम्न प्रकार थी–

1. सेनानी को हिरण्य या सुवर्ण
2. पुरोहित तथा महिषी को गाय
3. सूत को यव (जौ) से बना भोजन
4. ग्रामणी को गाय
5. क्षतृ को बैल (अनड्वान)
6. संग्रहीता को दो गाय
7. अक्षवाप को गाय
8. गोविकर्ता को गाय
9. भागदुध को काली गाय
10. पालागल को लाल पगड़ी तथा धनुष–बाण दिया जाता था।

शतपथ ब्राह्मण[17] के अनुसार राजा रत्नियों को हवि देते समय कहता था–

'हम तुम्हारे लिए ही अभिषिक्त होते हैं और तुम्हें अपना निष्ठ (अनुगामी) बनाते हैं।' राजा रत्नियों की निष्ठा प्राप्त करने के लौकिक भाव के साथ–साथ पारलौकिक दृष्टि से देवताओं की आराधना में आहुतियाँ अर्पित करता था।

उदाहरणतः –

'धर्ममय शक्ति के लिए सविता को, गार्हपत्य के लिए अग्नि को, वनस्पति और कृषि की रक्षा के लिए सोम को, वाक्शक्ति के लिए बृहस्पति को, उत्तम शासन हेतु इन्द्र को, पशुरक्षा के लिए पशुपति रुद्र को, सत्य के लिए मित्र को और सबसे अन्त में धर्मपति वरुण को आहुति दी जाती थी।[18] हिन्दू राजतन्त्र के अनुसार धर्म ही सच्चा अधिपति है और राजा दण्ड या शासन का वह रूप है जो धर्म की रक्षा और संस्थापना करता है। उपरिअंकित आहुतियाँ राजा की विविध विशेषताओं और कर्तव्यों की प्रतीक हैं। वैदिक मन्त्रों द्वारा राजा में दैवीगुण आरोपित किए जाते थे।[19] यदि अथर्ववेद में वर्णित राजा के गुणों एवं महत्व का आंकलन किया जाय तो प्रजा द्वारा सम्मान्य राजा प्रजा का अधिपति (विशां विशपतिः), कोष का एक मात्र स्वामी (धन–चपतिर्धनानाम्), जन का एक मात्र अधिपति (एकवृषं जनानाम्), समस्त प्राणियों का प्रभु (वृषः विश्वस्य भूतस्य), मनुष्यों में सर्वोच्च (ककुद मनुष्याणां) और देवताओं के समकक्ष (देवानां अर्धमाक) होता था।[20]

राज्याभिषेक के लिए प्रस्तावित राजा को राष्ट्र के विविध स्रोतों से प्राप्त जल से स्नान कराने का उल्लेख है। यजुर्वेद में उल्लेख है–

'जो दिव्य गुणों वाले जल अन्तरिक्ष और पृथिवी में अपने सारभूत रस से सबको तृप्त करते हैं, उन सब जलों के तेज से मैं तुझे स्नान कराता हूँ।'[21]

अथर्ववेद के अनुसार– 'जिन गुणों को दिव्य जलों ने ग्रहण कर रखा है, जो मधु से युक्त हैं, जो रस वाले हैं, जो राजाओं का निर्माण करने वाले हैं, जिनसे मित्र और वरुण का अभिषेक किया जाता है। जिनके द्वारा अभिषेक करके सम्राट को (इन्द्र) शत्रुओं से पार पहुँचा देते है, उन जलों को मैं स्नान के लिए लेता हूँ।[22]

प्रथम मन्त्र में अन्तरिक्ष के जल से तात्पर्य वर्षा के जल से है। पृथिवी के जलों के अन्तर्गत समुद्र, नदियों, जलाशयों एवं कुओं के जल आते हैं। द्वितीय मन्त्र में जल की श्रेष्ठता का उल्लेख है। अथर्ववेद के ही एक मन्त्र में उल्लेख है कि राज्यभिषेकीय स्नान में राजा में राजा को जल की प्रशंसा के मंत्रों का उच्चारण करते हुए स्नान करना चाहिए।[23]

शतपथ ब्राह्मण में सत्रह प्रकार के जलों का संग्रह करके उनसे राजा के स्नान का वर्णन मिलता है। जल संग्रह करते समय वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था। ये जल वस्तुतः राष्ट्र के जल स्रोतों के प्रति राजा की निष्ठा एवं अनुराग के प्रतीक थे। दूध, घी, मधु आदि द्रव्यों का प्रयोग भी अभिषेक के समय किया जाता था।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सर्वप्रथम राजा का अभिषेक प्रजाजनों द्वारा किया जाता था।[24] तत्पश्चात् मैत्रावरूण वेदी के समक्ष रखी हुई शार्दूल की खाल (व्याघ्रचर्म) पर निर्वाचित राजा बैठ जाता था। ब्राह्मण (पुरोहित), स्व (राजा के अपने परिवार का कोई व्यक्ति) राजन्य और वैश्य द्वारा क्रमशः उसका अभिषेक किया जाता था। अभिषिक्त होता हुआ राजा कहता था– 'मैं जन का मरण करने वाला हो सकूँ अतः राष्ट्र को देने वाले जलों मुझे राष्ट्र प्रदान करो।'

अभिषेक के उपरान्त राजा नवीन वस्त्र धारण करता था। अपवाद रूप में शतपथ ब्राह्मण[25] में उल्लेख है कि राजा के अंग ही उसके प्राकृतिक वस्त्र हैं।[26] राजा को धनुष और तीन बाण दिए जाते थे जो उसकी क्षात्र शक्ति के परिचायक थे। तीनो बाण सम्भवतः पृथिवी, अन्तरिक्ष और आकाश के प्रति राजा के कर्तव्यों का बोध कराते थे। राजा का सौ छिद्रों वाले सुवर्ण पत्र से अभिषेक किया जाता था ये सौ छिद्र सम्भवतः राजा के शतायु होने की अभिव्यक्ति करते थे। इन्ही कर्मकाण्डों में राजा गूलर की लकड़ी की बनी आसन्दी (चौकी) पर बैठता था। वह वराह के चर्म के जूते पहनता था। चार अश्वों वाले रथ पर आरूढ़ होकर कुछ दूर जाता था। तैत्तिरीय संहिता में उल्लेख है कि राज्याभिषेक के अन्तर्गत रथारूढ़ राजा सर्वप्रथम सूर्य के दर्शन करता है फिर अपनी प्रजा की ओर देखता है। सम्भवतः सूर्य की ओर राजा द्वारा देखना उसकी कृपा एवं प्रकाश प्राप्त करना था। जिस प्रकार सूर्य सृष्टि के प्रत्येक जीव को समान रूप से प्रकाश देता है उसी प्रकार राजा के लिए सभी

प्रजाजन समान हैं। राज्याभिषेक के अवसर पर राजा द्वारा प्रजा के कल्याण हेतु शपथ लेने का विवरण अत्यन्त महत्व रखता है। इसके लिए ऐतरेय ब्राह्मण[27] का निम्न अंश उदाहरणीय है–

'जिस रात्रि में मेरा जन्म हुआ है और जिस रात्रि में मेरी मृत्यु होगी उसके मध्य के समस्त शुभ कर्मों, अपने स्वर्ग, जीवन और वंश से मैं वंचित होऊँ यदि मैं तुम्हें (प्रजा) पीड़ित करूँ।'

प्रस्तुत शपथ राजा की स्वेच्छाचारिता पर नैतिक अंकुश थी। राज्याभिषेक की प्रक्रिया में ही राजा की पीठ पर दण्ड स्पर्श का उल्लेख है। इसके दो अर्थ सम्भावित हैं। राजा भी दण्ड से परे नहीं है। उसे प्रजा की रक्षा हेतु दण्ड का सम्बल लेना चाहिए तथा दण्ड स्पर्श से राजा अदंड्य हो जाता है। सामविधान ब्राह्मण तथा गोपथ ब्राह्मण में राज्याभिषेक हेतु शुभ मुहूर्त पर बल दिया गया है।

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि विभिन्न युगों में राज्याभिषेकीय कर्मकाण्डों में कुछ अन्तर होता रहा। इन कर्मकाण्डों की विविधता के होते हुए भी मूल भावना यही थी कि राजा को देवताओं का सतत् आशीर्वाद एवं गुण प्राप्त हो। वह प्रजा के प्रत्येक वर्ग का समादर करे। राष्ट्र की धरती के कण–कण में राजा का अनुराग हो। अपनी सुयोग्यता एवं दूरदर्शिता से प्रजा का सदैव पालन एवं कल्याण करता रहे। बुद्धि एवं बल के समन्वय से राष्ट्र की रक्षा तथा सीमाओं की वृद्धि करता रहे। राज्याभिषेकीय कर्मकाण्ड राजाओं की निरंकुशता पर अंकुश लगाने के साथ–साथ उनमें सत्संस्कारों द्वारा श्रेष्ठता का आरोपण करते रहे होंगे।

सन्दर्भ

1. राज्ञ एवं राजसूयं। राजा वै राजसूयेनेष्टवा भवति। – शतपथ ब्राह्मण 5/1/1/12
2. इयं ते राट्। कृष्यै त्वा क्षेभाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा। – यजुर्वेद 9/22
   शुक्ल यजुर्वेद 20. 1–4
3. हिन्दी अनुंवाद हेतु, प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, डा. विमलचन्द पाण्डे, पृ.–155.
4. शुक्ल यजुर्वेद 20. 5–9.
5. ओजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रमनुष्यै दत्तापः। – यजुर्वेद 3/10.
6. तैत्तिरीय ब्राह्मण 1, 2/10/2/2.
7. ब्रह्मन, राजन्य, महिषी, परिवृक्ति, सेनानी, सूत, ग्रामणी, क्षतृ, संग्रहीत, भागदुध, अक्षावाप.
8. ब्रह्मन, राजन्य महिषी, परिवृक्ति सेनानी, संग्रहीत, क्षतृ सूत वैश्य ग्रामणी, भागदुध, तक्षन्, रथकार, अक्षावाप, गोविकर्त.
9. ब्रह्मन, राजन्य, महिषी, वावाता, परिवृक्ति, सेनानी, सूत, ग्रामणी, क्षतृ संग्रहीतृ, मागदुध, अक्षावाप.
10. सेनानी, पुरोहित, याजक, महिषि, सूत ग्रामणी, क्षतृ, संग्रहीतृ, भागदुध, अक्षावाप, गोनिकर्तन, पालागल प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाए – डा. राम शरण शर्मा, पृ. 138.
11. के.पी. जायसवाल, हिन्दू पालिटी हिन्दी अनुवाद हिन्दू राज्यतन्त्र खण्ड–2, पृ. 27.
12. कौटिलीय अर्थशास्त्र 2/5
13. प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, पृ. 142 डा. रामशरण शर्मा

14. कौटिलीय अर्थशास्त्र 2/5.
15. यजुर्वेद 13/30
16. प्रा. भा. रा. वि. एवं संस्थाएं, डा. रामशरण शर्मा पृ. 142.
17. हिन्दू राज्यतन्त्र, के.पी. जायसवाल पृ. 30 खण्ड–2
18. तस्माडएवैतेन सूयते तं स्वमनपक्रमिणं कुरुते। – शतपथ ब्राह्मण 5/3/1/1
19. हिन्दू सभ्यता, डा. राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दी अनुवाद पृ. 100–101
20. वही.
21. अथर्ववेद 4/22, हिन्दू सभ्यता, डा. राधाकुमुद मुकर्जी, पृ. 101.
22. अपो देवां मधुमती रगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्वश्चिताना:।
    यामिर्मित्रावरूणावम्याधिच्वन्याभिरिन्द्रमतमन्नराती:।। – यजुर्वेद 10/1
23. या आपो दिव्याः पयसा मदन्त्यरिक्ष उत वा पृथिव्याम्।
    तासां त्वा सर्वासामपाममिविषच्चामि वर्चसा।। – अथर्ववेद 1/9/3 – अथर्ववेद, 4/8/5
24. विस्तृत विवरण हेतु पठनीय शतपथ ब्राह्मण 5/3/4/17–20।
25. वही 5/3/5/1
26. वही 5/3/5/25
27. एतरेय ब्राह्मण 8/15.

❐❐

"संग्रहालय : सांस्कृतिक धरोहर का रक्षक"

CONTRIBUTION OF ERAN TO INDIAN HISTORY

Prof. V.D. Jha*

The Village of Eran to sagar district (M.P.) is located between the 24^{0}5' 10' North Lat. and 78^{0}10'24' East Long. It is approachable from Mandi Bamora, a small township on Bina-Bhopal Railway track, by a 10 km. long fair weather road. Another approach is from khurai town, the headquarter of the same Tehsil.

Eran stands on the left bank of river Bina which protacts it from North, East and West by forming a semicirculer curve. The fertile black soil and the geographical location of Eran, coupled with the perennial water in river Bina, remained constant source of attraction from the remote past. The town witnessed rise and fall of various cultures and ruling dynasties.

The stone impliments, noticed on the bed of river Bina and on the open fiald near Earn, indicate that the site has seen the human activities right from the lower Paiaeolithic Age.[1] The earliest sattlers at Eran, the authors of the Neolithic culture, preferred it only because it had natural protection from three sides. The neolithic sattlements in South India[2] and Bastar[3] (M.P.) were ancircled by stone walls. Eran is the only site known so far in the world which yielded fractional burial of a horss from the neolithic phase.[4] worship of a horse by the neolithic folk was unknown prior to this. The main mound at Eran, containing 2.00 mater thick protohistoric deposition, revealed significant evidence in excavations conducted by the author in 1987-88. The Ahar culture (Period 1A), having three structural pheses, is coampanied by Malwa wane also. The occurance of triangular cake-like terracotta objects, stone weight, buff ware and the graffitti marks. resembling the indus script, suggest Harappan affinity.[5] The Kayatha Phase (Period IB) is marked by the introduction of keyathe ware and complete absence of Aher warer though the kalwa ware continued. Terracotta figurines of humped bull and mother goddess, burnt bricks and graffiti marks on the pottery akin to the Indus script again confirm Harappan affinity.[6]

46-97 meter wide, 6.41 meter high and about 01 km. long mud rempert along with a 36.60 meter wide and 5.49 meter deep moat, prepared during the middle phase of the chalcolithic period, speak about the protective measures taken.[7] A neatly cut thin circular gold piece (weight 20 gooins and diameter 9")[8], unearthed in excevation, throws invaluable light on the economy of the chalcolithic

---

***Ex. Head of Dept. Ancient Indian History, Culture and Archaeology, Dr. Harisingh Gour University, Sagar (M.P.)**

period. According to Prof. Bajpai, the circular gold piece served as an object of money.[9] Gold serving as money inprotohistoric India has not been reported so far. The massive mud rempart, the most and the above gold piece are the mark of the elevated status of the town of Eran. Similarily, the massive rampart and moat, preparetion of which need ample man-power, speak that the town of Eran had a large population. No wonder that Eran enjoyed the status of the capital town of the chalcolithic culture in Central India.

The author is inclined to suggast that Eran was the capital of Airake, the Naga Chief. referred to in the Mahabharata.[10] The town, as a matter of fact, was named as Airakakachchha after Aicaka. Protected from threa sides by river Bina. It looked like kechchha (the tortoise). The therigatha (p.24) and the petavatthu (p.16) state that. Erakakachchha is located within Dasarna, whereas the Avasyake Nryukti (12.78) and Nisithathasya (10.31.63) place Eraka kachchha in close proximity to Vidisa. The geographical location of Eran corrossponds with the description of the above works. It may be noted that Eran is hardly 70 kms. from vidisa.

The status of Eran remained unchanged even after the decline of Chalcolithic culture. Fairly large number of punch marked coins from the surface and excavations prompt to conclude that Eran had one of the earliest coin-mints in the country.[11]

Comprised within the Mauryan territory, Eran witnessed the soverigroty of the local rullers soon after A 80 km. The coin of king Dharmapala, bearing the legend Rana Dhammapalasa in Brahmi character of 3rd cant. B.C.[12], and a lead piece bearing the geal-mark of king Indragupta (3rd Cant. B.C.) notiged at Eran, corroborate this assumption. Both were the local rulers. The earliest archaeological evidence of state-control on weights and measures comes from Eran in the form of above mentioned circular head place (weight 2.97 kgs.) bearing the seal mark of the king.[13] That the town maintained its status even aftar Dharmapal a and indragupta has been attested to by the Janapada coins met with in excavations. The coins bear the legend Airikina in Brahmi character of 3rd-2nd Cant. B.C.[14] Prof. Bajpai opined that, these coins were issued by the guild of traders.[15] But, as the coins do not base the name of the quild, Prof. Bajpai's contention appears to be untenable. The author is inclined to suggest that, Eran enjoyed the status of city state. Hence the coins bear its name. The significance and prosperity of this city state has been attested to by a donative inscription at Sanchi. The epigraph, belonging to 3rd-2nd cant. B.C., relates about the donations given to the Buddhist stupa of Sanchi by the people of Eran.16 A beautiful carved in round image of Torana Salabhanjka, belonging to

1st cent. E.C.17 in Eran exhibite the achievements in the field of art during the Prechristian era. It appears that above mentioned icon of Torana Salabhenjka was a part and partial of the Torana reported by A. Cunningham during the last quarter of 19th Cent. A.N.

Eran was an integral part of the sunga and the satvahana dominion. The Western Ksatrapa rulers castana and Rudradaman I also had their hold over Eran. The undrted Eran pillar inscription of the time of sake sridharaverman[18] and his kanakhera epigraph[19] apparantely prove his suzerainty over Eran-Vidisa region. The date of kanakhera inscrintion is a matter of controversy. R.D. Banerjee[20] assigns the date 279 A.D., While N.G. Majumkar[21] and Mirashi [22] place the epigraph to 319 A.D. and 365 A.D. respectively. According to V.B. Rao[23], the inscription is dated 390-91 A.D. The author holds that, the kanakhera inscription of sridharvermen is dated in saka era 102 (A.D. 180) and that, sridharverman served earlier as Mahadandanayaka (the enithet given in kanakhera epigraph) of Rudradaman I and his immediate successor. The war of succession among the sakes after Damoghasada and the rise of Abhira king isvaradatta and Satavahana Yajnawsrt against the sakes weakened the sake power. The instability caused by the above reasons gave him opportunity and he (Sridharaverman) proclaimed his soveralgnty sometime after 180 A.D.24 The earliest inscrintional reference of Maharastra has been made in the Eran pillar inscription of sridharaverman.

The coins and coin-moulds, unearthed in excevations at Eran, tastify the dominance of the Ksatrapos right form 218 A.D. to the first quarter of the 4th Cent. A.D. A silver coin of Rudrasena I, bearing the date 218 A.D., two coin-moulds of mahak satrapa vijayasena date. 245 and 248 p. respectively, nine coin-moulds of Mahak satrena rudrasena IT (C. 258 to 267 A.D.) coin-mould of Mahak satrapa Visvasimha (c.279 to 282 A.D.) and a coin-mould of Rdudrasimha IT (C. 305-316 A.D.) have been unearthed at Eran. [25] The kaatrapas were exterminated by the Nagas from Eastern Malwa. Eran yielded the coins of Ravinaga, Ganapatinaga and a number of Naga coins bearing the legibal legend "Maharaj asrt" only.[26]

Samudraqupta, who subdued the Nagas, visited Eran during the later port of his reign to meet his eldest son Ramagupta, who was stationed at Eran as the Viceroy of Eastern Malwa. The Eran inscription of Samudragupta speaks that, Samudragupta, accompanied with her chief queen, son as and grandsons visited and set-up (probably temple?) in the Syabhoganagara of Airikina Pradesa.[27] Two terracotta gealings bearing the legand "Mahadandanayak Simhanandi" and "Airikint Gomika Yisayadhikaranasya" respectively in Brahmi

Character of early 5th Cent. A.D., have been met with in Eran excavations.20 In all probabilities simhanandi was the Mahadandaneyaka of Chandragupta IT. The visit of samudragupta, the sealing of the General Simhanandi, the erection of an additional mud rampart, to the south of the earlier rampart, during the Gupta pariod and remnants of three gupta temples exhibit the stratagic and religious importance of Eran.

The second rampart would have been erected during the reign of Chandra gupta it. Who started his career as a monarch at Eran. Ramagupta was looking after the affairs of Eastern Malwa with his vicaregal seat of Eran at the time of the death of Samudragupta. At this juncture, Rama gupta, being the eldest son of samudragupta, prociaimed himself as the crown-prince of the gupta dynasty. The proclaimation was made at Eran itself. It is quite plausible that, Chandragupta It was accomanying his elder brother. That is why, when Ramagupta accepted the humiliating demand of the sake usurper, Chandragupta It at once acted upon and saved the glory of his family by slaying Saka king and his own brother Ramagupta. The Saka ruler, assessinated by Chandragupta II was no other than isvarmitra. Two baked clay sealings of the Saka KIng Simhasrisena, the son of Isvaramitra, have been encouptered at Eran excavations.29 Simhasrisens of the sealing is identifiable with swami Simhasena of the coins who ruled upto 384 A.D. [30] As the episode of Ramagupta occured at about 375 A.D. (the year in which chandragupta I I ascended the throne arter Ramagupta) the Saka chief, killed by chandragupta II may be identified as Isvaramitra. Later, Simhasana (Simhasrisena) ruled over Eran region under the vassalage of Chandragupta II. It may be assumed that, the corronation ceremony of Chandragupta II was nerformed at Eran.

The Eran pillar inscription of Budhagupta, dated Gupta Era 165 (A.D. 184), narrates that when king Surasmichandra was ruling over the land between the narmada and the kalindi (Yamuna) under the Gupta monerch Budhagupta, king Matravisnu and his youngar brother Dhanyavisnu caused the eraction of a Dhwaja (flag staff) in honour of God Janardana.[31] The epigraph shows that, the region between the Narmada and the Yamuna was recognised as a separate administrative unit during the Gupta period.

The Gupta dominance continued in this part of the country till the Guptas ware supplanted by Toramana after 484 A.D. Matravisnu, the local ruler of Eran under the Guptas, who has been referred to in the Eran pillar inscription of Budhagupta, appears to have submitted and transferred his allegiance to Toramana. It has been stated in the Eran boar inscription of Toramana that, Dhanyavisnu, the younger brother of the deceased king Matravisnu, erected a

temple in his own visaya of Airikina, during the first regnal year of Maharajadhiraja Toramana[32]. It may be assumed that, Toramana besiezed Eran shortly aftar the execution of the Eran pillar inscription of Budhagupta in 484 A.D. and allowed Matravisnu to govern under him. Matravisnu died soon. Hence, Toramana placed Dhanyavisnu as in-charge of Eran region.

Another battle was faught at Eran in A.D. 510 by the Guptas in which Goparaja, the general of Gupta king Bhanugupta, lost his life. The former's wife accompanied him on to the funeral pyre. The Goparaja piller inserintion of Eran relates that the king Bhanugupta, accompanied by Goparaja and followed by his friends (Came) hare.[33] The pillar, bearing the epigraph, is extant at Eran. Goparaja undoubtedly followend the king to Eran. The battle was fought in or around Eran in all probabilities against the Huna Chief Toramana. It is one of the earliest inscriptional evidence of the prevanence of sati system.

It is interesting to note that Eran witnassed both rise and fall of the Barbaric Bunas. The Eran stone boar inscriotion of Toramana, executed in the first regnal year of the Huna King, is the testimony of the fact that Toramana occupied Eran immediately after his accession. Mihirakula, the son and of Toremana, after whom the Huna power melted in India, not only sustained heavy defeat, but was captured at Eran. It was Baladity, the Gupta king, who is credited to have defeated Mihirakula. Kosmo, the author of 'Christian Topography' (written in between A.D. 635-47) describes that, 'At one time when the Huna king was besiezing a city situated in Madhyadesa, he was unable to take it on account of the moats full of water---thereupon he made his elephants, horses and myriads of soldiers drink the moat during the protected sieze, so that he was able to march dry-foot in to the town."[34] The early records state that, when Mihirakula entared the swampy country where Baladity was hiding the former was captured alive by the soldiers of Baladitya. Later, Baladitve released Mihirakula. who was escorted from the island by the troops and a guard.[35] The defeat of Mihirakula at the hands of Baladitya has been referred to by Yuan Chwang.[36]

The Island, where the ill fated Mihirakula was defeated and captured, is no other than Eran protected from three sides by river Bina, Eran had a mud rampart and a 36.60 meter wide and 5.49 meter deep moat, filled with water at the southern side. Therefore, it appeared like an island.

The Town, which served as a great military, political and religious centre for centuries togather, lost its glory as it was abandoned after 6th Cent. A.D. Though Eran served as headquarter of 32 villages after its reponulation in the 14th Century A.D., it failed to attain the glory that it had earlier.

Reference

1. Bajpai, K.D., Sagar through the Ages, Sagar, 1964, Plate XVII.
2. Sankalia, H.D. "Beginning of Civilization in South India", Science Today, April 1968, p. 33.
3. Jha, V.D., "Archaeological Investigations in Bastar", in (Ed.) Singh, U.V., Archaeological Congress and Seminar, 1972, pp. 152-53.
4. Jha V.D., "Recent Excavations at Eran", in (Ed.) Singh, P. and Tandon, O.P., Archaeological Studies, Varanasi, 1988. pp. 101-02.
5. Indian Archaeology : A Review, 1987-88, pp. 76-77.
6. Ibid.
7. Singh, U.V., "Eran- A Chalcolithic Settlement", Bull. A.I. History, Vo. I, 1967, Sagar, pp. 32-34.
8. Bajpai, K.D., "Chronological Sequence of the punch marked coins Erom Eran", Bull. A.I.H., No. 1, 1967, Sagar, p. 63, Sagar Through the Ages, p.27.
9. Bajpai, K.D., Indian Numismatic studies, Delhi. 1976, p.7.
10. Mahabharata, Adinarvan, 57/13.

    "Airakah Kundalo Veni--- Praviste Havyevahanam."
11. Bajpai, K.D. Indian Numismatie Studies, pp. 16, 19, 21,
12. Cunningham, A., Coins of Ancient India, 1891, pl. Vi, Fig. 18.
13. Bajpai, K.D., Ind. Num. Studies, p. 171, Pl. I, Fig. 4.
14. Ibid., p. 10.
15. Ibid., p. 2,4, 10.
16. Epi. Ind., II, p. 375.
17. Jha, V.D., "Remarkable Prahmanical Icons in Sagar District". Puratan, vol.I, No. 2 and 3. Bhopal, 1984, pp. 26-33.
18. Corpus Ins. Indi., IV. Part II, pp. 605-11.
19. Ibid., Part I, pp. 13-16.
20. Epi. Ind., XVI, p. 231.
21. J.A.S.B., New Series, Vol. XIX (1923), p. 342.
22. C.I.I., IV, Part I. pp. 13-6.
23. Visvambhan, Prof. V.S. Pathak East schrift. Vol. I. Delhi, 1995, pp. 120-26.
24. For details see :

Jha, V.D., "Eran : The earliest Naga-seat in Central India", Jour. of M.P. Itihas Parishad, No. 17, 1995, pp. 13-19, "The early history of Bundelkhanda", Proc. of Seminar on History and culture of Bundelakhande, Delhi, 1995, pp.

25. Jain V.C., Malwa Throught the Ages, Delhi, 1972, pp. 169-80; Satya Shrava, Sakes in India, New Delhi, 1981, pp. 84-90. I.A.R., 1964-65, p. 23; Bull of A.I. History, Sagar, Vol. I, p. 124.
26. J.N.S.I., No. 31, Vol. I, pp. 72-73.
27. C.I.I., ITI, p. 18-21.
28. Bajpai, K.D., St. Ind. Num., p. 24.
29. Jha, V.D., "Recent Excavations at Eran" op.cit., Bajpai. K.D., Bull. A.I. History. No. 1, p.9.
30. Bajpai, K.D., Bull. A.I. History, No. I, p. 10.
31. C.I.I., II. p. 88.
32. Ibid., III, pp. 159-61.
33. Ibid., pp. 91-93.
34. Kosmo's Account, Indian Antiquiry, vol. XXXIV, pp. 73 ff.
35. Records, i. p. 169, cf. Thakur, Upendra, The Hunas in India, Varanasi, 1964, pp. 179-80.
36. Watters, Thomas, On Yuan Chwang's Travels in India, Delhi, 1973, pp. 288-89.

❑❑

"India is Proud of Her Cultural Tresures"

गंगा के मैदान में पाषाण काल

प्रो. जगन्नाथ पाल*

यद्यपि गंगा के मैदान ने भारत के प्रारम्भिक इतिहास और संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है लेकिन यहाँ पहाड़ न होने के कारण पाषाण युगीन संस्कृतियों के अस्तित्व की संभावना नहीं थी। गंगा के मैदान के मध्यवती भाग में हुए पुरातात्विक अनुसंधानों ने इस असंभावना को झुठला दिया है और अब यहाँ का इतिहास परवर्ती प्रातिनूतन कालीन पाषाण संस्कृति से प्रारम्भ होता है।

ग्रीष्म ऋतु में इस क्षेत्र में प्रचण्ड गर्मी तथा शीत ऋतु में अत्यधिक ठंडक पड़ती है। वार्षिक वर्षा 100 सेमी. से भी अधिक होती है। गंगा की सहायक नदियों में घाघरा तथा उनकी सहायक कुआना, राप्ती, छोटी गंडक, गंडक बूढ़ी गंडक, कोशी, वरूणा, गोमती तथा उसकी सहायक सई तथा सोन नदियाँ उल्लेखनीय हैं। इस क्षेत्र में बहुत सी धनुषाकार झीलें भी हैं जिनसे छोटी छोटी नदियां निकलती हैं। गंगा तथा उसकी सहायक नदियों द्वारा ही गंगा के मैदान का निर्माण हुआ है।

प्रयाग विश्व विद्यालय द्वारा इस क्षेत्र में किये गये पुरातात्विक अन्वेषणों से मध्यगंगा घाटी के प्रागैतिहासिक और प्रारम्भिक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को नया आयाम मिला है। और गंगा के मैदान का इतिहास प्रागैतिहासिक काल से ही विश्व इतिहास का एक अंग बन गया है। मध्य गंगा घाटी के प्रागैतिहासिक, संस्कृतियाँ के स्वरूप का विवेचन करना इस लेख का उद्देश्य है।

मध्य गंगा घाटी के दक्षिण विन्ध्य क्षेत्र में आदि मानव के प्राचीनतम प्रमाण 4–5 लाख वर्ष पहले से मिलने लगते हैं। उस क्षेत्र की नदी उपत्यकाओं के अनुभागों से पाषाण कालीन संस्कृतियों के क्रमिक विकास के उल्लेखनीय प्रमाण मिले हैं।[1] तत्कालीन पशुओं के अश्वीभूत अवशेष और मानवनिर्मित पाषाण उपकरण नदी अनुभागों और वेदिकाओं से प्राप्त होते हैं। विंध्य पर स्थित उद्योग स्थलों से मिलने वाले उपकरणों तथा उपकरण निर्माण प्रक्रिया में निकले फलकों आदि से भी तत्कालीन मानव की कहानी के पुनर्निर्माण में सहायता मिली है। उच्च पूर्व पाषाण काल में विन्ध्य क्षेत्र की जलवायु में परिवर्तन होने लगा था, इसके प्रमाण यहाँ के नदी अनुभागों से प्राप्त हुए हैं। बदले हुए परिवेश के कारण ही संभवतः उपकरण निर्माण तकनीक में परिवर्तन करके नवीन प्रकार के उपकरणों का निर्माण किया गया।

जलवायु में इस क्रांतिकारी परिवर्तन का प्रभाव गंगा घाटी पर भी पड़ा और गंगा उत्तर से खिसक कर दक्षिण में अपनी वर्तमान स्थिति में चली आयी। अपने मार्ग परिवर्तन के कारण उत्तर में गंगा नदी ने बहुत सी धनुषाकार झीलों का निर्माण कर दिया। गंगा के प्राचीन प्रवाह मार्ग में निर्मित, अधिकांश धनुषाकार झीलें अभी भी अपना अस्तित्व बनाये हुये हैं। कुछ झीलें प्राकृतिक कारणों से भर गयी हैं और कुछ को यहाँ के निवासियों ने खेतों में परिवर्तित कर लिया है। प्रतापगढ़

***पूर्व विभागाध्यक्ष, प्रा.भा.इ.सं. एवं पुरातत्त्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद**

के रसूलपुर, इलाहाबाद के रामगढ़, जौनपुर के गुजर ताल वाराणसी के रायल ताल आजमगढ़ के असकर ताल तथा गाजीपुर की सिहोरी झील उन धनुषाकार झीलों में हैं जिनका अस्तित्व अभी भी बना हुआ है। ये झीलें 20.48 से 1.92 वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र में विस्तृत है।[2] मध्य गंगा घाटी के वर्तमान धरातल के निर्माण में इन झीलों का अत्यधिक योगदान है क्योंकि इस क्षेत्र की अधिकांश नदियां इन्हीं झीलों से निकलती हैं। इन झीलों के किनारे का पुराना धरातल उसरीला होने के कारण खेती के लिये अधिक उपयुक्त नही है, यही कारण है कि झीलों के तट पर स्थित पुरातात्विक स्थल सुरक्षित रह सके।

उच्च पूर्व पाषाण काल के बाद जलवायु गत परिवर्तन के कारण तत्कालीन पशु जगत और वनस्पति जगत में भी परिवर्तन हुये। इस बदलते परिवेश में मानव को भी नये प्रकार के उपकरणों की आवश्यकता हुई अतः उसने नन्हें–नन्हें उपकरणों का निर्माण प्रारम्भ किया। इन उपकरणों को हम लघु पाषाण उपकरणों के नाम से जानते हैं। इनमें से कुछ उपकरण तो वाणाओं के रूप में प्रयुक्त किये जाते थे और कुछ को संयोजित उपकरण के रूप में प्रयुक्त करते थे। उच्च पूर्व पाषाण काल के अन्त होते होते जब कि विन्ध्य क्षेत्र में सूखी जलवायु के प्रमाण मिलते हैं और गंगा के दक्षिण की तरफ खिसकने के प्रमाण मिलते हैं, तभी सर्वप्रथम गंगा के मैदान में पाषाण कालीन मानव के आगमन के प्रमाण भी मिलने लगते हैं।

गंगा घाटी में कई स्थलों पर गंगा के पुराने कछार के अनुभागों में चार जमाव मिलते हैं।[3] सबसे नीचे का जमाव कंकरीली पीली मिट्टी का है। इसके ऊपर काली मिट्टी का जमाव है। तीसरा जमाव पोतनी मिट्टी का है और सबसे ऊपर बलुई मिट्टी का लगभग 2 मीटर मोटा जमाव है। गंगा घाटी के इस ऊपरी जमाव में ऊपर से नीचे तक लघु पाषाण उपकरण प्राप्त होते हैं। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि इन उपकरणों का निर्माता मध्य–पाषाण कालीन मानव इस क्षेत्र में उस समय आया जब इस ऊपर बलुई मिट्टी का जमाव प्रारम्भ हुआ था और उसका कार्यकाल इस जमाव के अन्त तक चलता रहा। नवीन शोधो के आलोक में मध्य पाषाण काल के भी पहले के सांस्कृतिक अवशेष गंगा के मैदान में प्राप्त हुये हैं। इन उपकरणों को उच्चपूर्व पाषाण काल तथा मध्य पाषाण काल के संक्रमण काल का माना गया है। ये उपकरण जिस धरातल पर प्राप्त होते हैं उसके अवलोकन से यह कहा जा सकता है कि इनका भूतात्विक धरातल, गंगा के कछार का तीसरा जमाव–पोतनी मिट्टी का ऊपरी धरातल है। इसी धरातल पर सर्वप्रथम पाषाण कालीन मानव मध्य गंगा घाटी में आया।

मध्य गंगाघाटी में हाल में हुये पुरातात्विक अन्वेषणों के आलोक में सम्पूर्ण प्रागैतिहासिक संस्कृति की जो रूप रेखा निर्मित हुई है उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

1. उच्चपूर्व पाषाण काल और मध्य पाषाण काल के संक्रमण काल की संस्कृति :–

गंगाघाटी की इस प्राचीनतम संस्कृति[4] के प्रमाण अभी तक पांच स्थलों से प्राप्त हुये हैं– वाराणसी में गढ़वा (अक्षांश 25^0 23′ 45′′ 30, देशान्तर 82^0 53′ 45′′ पूर्व), इलाहाबाद में अहिरी

(अक्षांश 25^0 21′ 0′′ 30, देशान्तर 82^0 16′ 0′′ पूर्व) और प्रतापगढ़ में सुलेमान पर्वतपुर (अक्षांश 25^0 59′23′ 30, देशान्तर 82^0 16′ 12′′ पूर्व) मन्दाह (अक्षांश 25^0 59′ 0′′ 30, देशान्तर 82^0 2′ 35′′ पूर्व) तथा सोल्हीपुर (अक्षांश 26^0 0′ 10′′ 30, देशान्तर 82^0 4′ 30′′ पूर्व)। ये स्थल[5] धनुषाकार झीलों अथवा इन झीलों से निकलने वाली सरिताओं के तट पर स्थित हैं।

उच्चपूर्व पाषाण तथा मध्य पाषाण काल के संक्रमण कालीन सांस्कृतिक स्थलों से अत्यधिक मात्रा में पाषाण उपकरण प्राप्त हुये हैं। इन स्थलों पर पूर्णनिर्मित उपकरणों के साथ ही निर्माण की विभिन्न अवस्थाओं में उपकरण, कोड, फलक आदि प्राप्त होते हैं जिससे प्रतीत होता है कि इन उपकरणों का निर्माण इन्हीं स्थलों पर किया गया है। गंगा घाटी में पाषाणों का श्रोत नही है। विन्ध्य क्षेत्र से पाषाण कालीन मानव पत्थर के पिण्ड लेकर गंगा घाटी में आता था, यहीं पर उपकरणों का निर्माण करता और शिकार करता था। जलवायु और परिवेश में परिवर्तन तथा तत्कालीन आबादी में वृद्धि इस आगमन का कारण रहा होगा। अभी तक इस संस्कृतिक के किसी स्थल का उत्खनन नहीं हुआ है। लेकिन इन स्थलों की सतह से जो उपकरण एकत्र किये गये हैं वे सभी चर्ट पत्थर पर निर्मित हैं और उन पर अत्यधिक रासायनिक काई लगी हुई है। उपकरण प्रकारों में समानान्तर बाहुवाले ब्लेड, भूथड़े ब्लेड, तक्षणी, नोक, खुरचनी, अर्द्धचन्द्र आदि उल्लेखनीय हैं।

विन्ध्य क्षेत्र में बेलन नदी के तट पर स्थिति एक स्थल चोपनी भाण्डो[6] का उत्खनन किया गया है। इस स्थल की प्रथम संस्कृति उच्चपूर्व पाषाण और मध्य पाषाण काल के संक्रमणकाल की संस्कृति है। पाषाण कालीन मानव ने सर्वप्रथम इसी काल में गोलाकार झोपडिया बनाकर आवास प्रारम्भ किया। गंगाघाटी की इस प्राचीनतम संस्कृति ने पाषाण कालीन मानव के ऋतुनिष्ठ प्रव्रजन का भारत में प्राचीनतम प्रमाण प्रस्तुत किया है। जबकि विन्ध्य क्षेत्र की सूखे की विभीषिका से बचने के लिए मनुष्य जीविका की तलाश में नदी घाटियों को पार करता हुआ उत्तर की तरफ आया। सम्भवतः उसका इस क्षेत्र में आगमन नितान्त अल्पकालिक होता था। अनुकूल मौसम में वह पुनः अपने मूल क्षेत्र में लौट जाता था। इस काल के उपकरणों का जो अध्ययन किया गया है उससे इस बात के प्रमाण मिले हैं कि इस संस्कृति के गंगा घाटी के उपकरण विन्ध्य क्षेत्र के उपकरणों की अपेक्षा छोटे हैं। उपकरणों की यह आकार गत न्यूनतम गंगाघाटी में पत्थर पिण्डों की अनुपलब्धता के कारण थी, मानव ने इनकी महत्ता को ध्यान में रखकर तब तक उपकरण निर्माण किया जब तक ये अत्यन्त छोटे नहीं हो गये।

विन्ध्य क्षेत्र में उच्चपूर्व पाषाण काल के उपकरण सीमेण्टेड ग्रैवेल तृतीय से मिलते है। इस जमाव से दो कार्बन तिथियां 23840 ± 830 ई.पू.[7] और 17765 ± 340 ई.पू.[8] प्राप्त हुई हैं। इस आधार पर विन्ध्य क्षेत्र की महत्व पूर्व पाषाण तथा मध्य पाषाण काल के संक्रमण कालीन संस्कृति को 17000 ई.पू. के बाद का माना गया है। गंगाघाटी की इस संस्कृति को भी यही समय प्रदान किया जा सकता है।

2. मध्य पाषाणिक संस्कृति :– सांस्कृतिक अनुक्रम में उपरोक्त संस्कृति के बाद जिस पाषाण

कालीन संस्कृति के प्रमाण मिले हैं उसे मध्य पाषाणिक संस्कृति के नाम से जाना जाता है। इस काल के जीव और वनस्पति जगत के अध्ययन से यह तथ्य उद्घाटित हुआ है कि अब घास के मैदानों की अधिकता हो गयी थी। मनुष्य को शिकार करने के लिये और खाने योग्य जंगली घासों को काटने के लिये नये प्रकार के उपकरणों की आवश्यकता हुई। ये उपकरण आकार में अत्यन्त छोटे हैं अतः इन्हें लघुपाषाण उपकरण कहा जाता है। इसके पूर्व की संस्कृति के उपकरण प्रायः चर्ट पत्थर पर ही बनाये जाते थे लेकिन अब चर्ट के अतिरिक्त चैल्सिडनी, अगेट, कार्नेलियन, क्वार्ट्ज आदि पत्थरों का प्रयोग उपकरण निर्माण में होने लगा। यद्यपि इन उपकरणों के निर्माण की तकनीक वही है जो उच्च पूर्व पाषाण तथा मध्य पाषाणकाल के संक्रमण काल की है लेकिन उपकरण प्रकारों में अब अधिक विविधता दृष्टिगोचर होती है।

इस संस्कृति के उपकरण सब से अधिक क्षेत्र में सज से अधिक स्थलों से प्राप्त हुये है। गंगा के उत्तर वाराणसी इलाहाबाद, सुल्तानपुर, जौनपुर और प्रतापगढ़ से इस संस्कृति के लगभग 193 स्थल प्रकाश में आये हैं।[9] इस संस्कृति के विकास की एक अवस्था में कुछ नये उपकरणों का आविष्कार हो जाता है। ये उपकरण त्रिभुज और समलम्ब चतुर्भुज के आकार के हैं। अपने ज्यामितीय आकार के ही कारण मध्य पाषाणिक संस्कृति के इस चरण के उपकरणों को ज्यामितीय लघुपाषाण उपकरण कहते हैं। इस प्रकार मध्य पाषाणिक संस्कृति दो चरणों में विभक्त हो गयी है–

1. अज्यामितिक लघु पाषाण उपकरण और 2. ज्यामितिक

गंगाघाटी में सब से अधिक–लगभग 172 स्थल अज्यामितिक लघुपाषाण उपकरणों वाले हैं। इस चरण के प्रमुख स्थलों में इलाहाबाद के कुढ़ार (अक्षांश 25° 35′ 4′′ 30, देशान्तर 81° 43′ 17′ पूर्व), भीखमपुर (अक्षांश 25° 31′ 15′′30, देशान्तर 81° 44′ 41′′ पूर्व) और महरूडीह (अक्षांश 25° 31′ 58′′ 30, देशान्तर 81° 49′ 3′′पूर्व), प्रतापगढ़ के हड़ही भिदुली (अक्षांश 25° 50′ 38′′ उत्तर, देशान्तर 81° 48′ 25′′ पूर्व), कन्धई मधुपुर (अक्षांश 25° 59′ 50′′ उत्तर, देशान्तर 82° 4′ 0′′ पूर्व) आदि स्थलों का उल्लेख किया जा सकता है।

द्वितीय चरण के अभी तक लगभग 21 स्थल प्रकाश में आये हैं। उल्लेखनीय स्थल हैं इलाहाबाद के बिछिया (अक्षांश 25° 34′13′′ उत्तर, देशान्तर 81° 43′ 25′′) प्रतापगढ़ के भेवनी (अक्षांश 25° 59′ 50′′ उत्तर, देशान्तर 82° 9′ 20′′पूर्व) धर्मनपुर (अक्षांश 26° 1′ 0′′ उत्तर, देशान्तर 82° 5′ 10′′पूर्व) उतरास (अक्षांश 25° 58′ 30′′ उत्तर, देशान्तर 82° 8′ 30′′ पूर्व) ज्यामितिक लघुपाषाण उपकरणों वाले दो स्थलों का उत्खनन भी किया गया है जिससे इस संस्कृति के विविध पक्षों पर प्रकाश पड़ा है। ये उत्खनित स्थल हैं प्रतापगढ़ में स्थित सराय नाहर राय महदहा और दमदमा।

सरायनाहर राय (अक्षांश 25° 48′ उत्तर, देशान्तर 81° 50′ पूर्व) प्रतापगढ़ से 15 किलोमीटर दक्षिण पश्चिम, एक धनुषाकार झील के किनारे स्थित है। यह झील अब सूख चुकी है। सरायनाहर राय में किये गये उत्खनन[10] से कब्रों दफनाये हुए नर कंकाल, गर्त चूल्हे, लघु–पाषाण उपकरण

आदि प्राप्त हुये हैं। लोग समूह में रहते थे इसके परिणाम स्वरूप सामूहिक रूप में प्रयुक्त होने वाले गर्त चूल्हे और फर्श प्रकाश में आये हैं। इस फर्श के चारों ओर चार गोलाकार गड्ढे मिले हैं जिनमें लट्ठा गाड़कर छत बनायी गयी थी। फर्श पर जली मिट्टी के टुकड़े जानवरों की जली, अधजली हड्डियां, घोंघे और लघु पाषाण उपकरण प्राप्त हुये हैं। गर्त चूल्हे गोले अथवा अण्डाकार हैं। इनमें जानवरों का मांस भूना जाता था। चूल्हों से उपलब्ध जानवरों की हड्डियां जली अथवा अधजली हैं। चूल्हों की राख में कोयले नहीं प्राप्त होते इससे लगता है कि मांस को घास फूस से ही भूना जाता था। एक चूल्हे को दो बार खोदकर प्रयोग करने के प्रमाण मिले हैं। इस स्थल पर मध्य पाषाणिक मानव कम से कम दो बार रहने के लिए आया था। यहाँ से उपलब्ध हड्डियों के अध्ययन से जिन जानवरों का प्रमाण मिला है उनमें गाय, बैल, भैंसा, हाथी, हिरण, बारहसिंघा तथा भेड़ बकरियों का उल्लेख किया जा सकता है। उल्लेखनीय है कि ये सभी पशु जंगली थे। कछुआ, घोंघे, मछली तथा चिड़ियों के अस्थि अवशेष भी मिले हैं जिन्हें मध्य पाषाणिक मानव खाया करता था। मध्य पाषाण काल के जानवर आज के पशुओं की तुलना में काफी बड़े थे।

सराय नाहर राय के उत्खनन से मध्य पाषाणिक लोगों की शवाधान प्रणाली पर विस्तृत प्रकाश पड़ा है। शवों को अण्डाकार छिछली कब्रों में दफनाया जाता था। कब्र में मृतक को रखने के पहले मुलायम झुरझुरी मिट्टी बिछाई जाती थी और उन्हें सांगोपांग लिटा कर रखा जाता था। इनका सिर पूर्व की तरफ तथा पैर पश्चिम की तरफ रखा जाता था। एक हाथ शरीर के समानान्तर और दूसरा पेट पर रखकर दफनाने की परम्परा थी। मृत्योपरान्त किसी दूसरे जीवन के बारे में भी लोग आस्था रखते थे। इसीलिये कब्रों में लघुपाषाण उपकरण, जानवरों की हड्डियां तथा घोंघे आदि मृतकों को भेंट के रूप में रखे हुए प्राप्त होते हैं। कब्रों को ढकते समय चूल्हों की राख भी प्रयुक्त होती थी। एक कब्र में चार मुर्दे एक ही साथ दफनाये हुये मिले हैं जिसमें पहले एक पुरुष तथा नारी और उसके ऊपर पुनः एक पुरुष और नारी के कंकाल रखे हुये मिले हैं। उल्लेखनीय है कि मध्य पाषाण काल की इस कब्र में नारियां पुरुषों के बायें रखी गयी हैं।

इस स्थल से बहुत से लघुपाषाण उपकरण निर्माण की विभिन्न अवस्थाओं में प्राप्त हुये हैं। उपकरण निर्माण के लिए चैल्सिडनी, अगेट, जैस्पर और कार्नेलियन पत्थरों का प्रयोग किया गया है। यहाँ से जो उपकरण प्राप्त हुये हैं उनमें कई तरह के नोक, समानान्तर बाहु वाले और भूथड़े ब्लेड, फलक, अर्द्धचन्द्र, विषय बाहु और समद्विबाहु त्रिभुज, खुर्चनी तथा तक्षणी का उल्लेख किया जा सकता है।

जानवरों की हड्डियों पर बने हुये उपकरण यहाँ अधिक नहीं प्राप्त हुये हैं। लेकिन कुछ पशुओं के सींगों से जमीन को खोदने का काम लिया जाता था। इसीलिये उनकी नोक अत्यन्त चिकनी हो गयी है। 13.2 से.मी. लम्बे तथा 3 से.मी. चौड़े हड्डी के बने हुए एक ब्लेड का उल्लेख किया जा सकता हैं जिस पर फलक निकाल कर तेजधार बनायी गयी हैं।

महदहा (अक्षांश 25^0 59′ 2″ उत्तर, देशान्तर 82^0 11′ 30″ पूर्व) गंगा घाटी का दूसरा मध्य

पाषाणिक स्थल जिसका उत्खनन किया गया है महदहा है।[11] यह स्थल प्रतापगढ़ जिले की पट्टी तहसील में प्रतापगढ़ से पूर्वोत्तर 31 किलोमीटर और पट्टी से उत्तर 5 किलोमीटर की दूरी पर वर्तमान महदहा गाँव के पूर्व दिशा में स्थित है।

1953 में शारदा सहायक नहर परियोजना की जौनपुर शाखा से इस स्थल का काफी भाग नष्ट हो गया था। 1978 में इस नहर को चौड़ा करने की प्रक्रिया में महदहा पुरातत्व जगत में प्रकाश में आया। उसी वर्ष यहाँ पर प्राचीन इतिहास संस्कृति और पुरातत्व विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रो. जी.आर. शर्मा के निर्देशन में उत्खनन प्रारम्भ किया गया।

महदहा का मध्य पाषाणिक स्थल लगभग 8000 वर्ग मीटर के क्षेत्र में एक धनुषाकार झील के पश्चिमी तट पर स्थित है। इस स्थल से होकर गुजरने वाली नहर के पश्चिम आवास तथा 9 माह के प्रमाण मिले हैं और पूर्व मध्य पाषाण कालीन जानवरों की बहुत सी कटी हुई हड्डियां प्राप्त हुई हैं। संभवतः यही वह क्षेत्र था जहाँ पर मध्य पाषाणिक मानव जानवरों को काटता था और हड्डियों के आभूषण तथा उपकरण बनाता था।

महदहा के आवास तथा शवाधान क्षेत्र में मध्य पाषाणिक मानव के सांस्कृतिक अवशेष 60 से. मी. मोटे जमाव में दबे पड़े हैं। इस जमाव को स्तरीकरण के सिद्धान्त पर चार स्तरों में विभाजित किया गया है। खुले हुये क्षेत्र में पाषाणिक संस्कृति का इतना मोटा जमाव अत्यन्त उल्लेखनीय है। इससे इस स्थल पर मध्य पाषाणिक मानव के एक लम्बे समय तक रहने का बोध होता है।

यहाँ के कब्रगाह से कुल 30 शवाधानों का उत्खनन किया गया है। जो स्तरीकरण तथा एक कब्र का दूसरी कब्र के ऊपर होने के आधार पर चार विभिन्न चरणों से सम्बन्धित हैं। सराय नाहर राय की तरह महदहा की समाधियाँ भी छिछली और अण्डाकार हैं जिनमें मृतकों को सांगोपांग लिटा कर रखा गया है। यद्यपि महदहा में भी अधिकतर मृतकों का सिर पश्चिम की तरफ तथा पैर पूर्व की तरफ रखा गया है लेकिन इस स्थल पर मध्य पाषाणिक मानव अपने मृतकों को कभी–कभी सिर पश्चिम और पैर पूर्व की तरफ रखकर भी दफनाता था। संभव है यहाँ दो प्रजातियों के लोग एक ही साथ रहते रहे हों। समाधियों में मृतकों के दोनों हाथ प्रायः शरीर के समानान्तर फैलाकर रखे गये हैं। लेकिन कुछ मृतकों का एक हाथ कटि के नीचे अथवा जांघों के बीच में रखा हुआ भी मिला है। अधिकतर मृतकों के कपाल बायीं ओर झुके हुये हैं। एक नर कंकाल विशेष उल्लेखनीय है जिसके दोनों पैर मोड़कर रखे गये हैं, बायां हाथ कटि के नीचे और दाहिना जांघों के बीच में है। महदहा में दो बच्चों के शवाधान भी प्राप्त हुये हैं। जिनमें से एक 6 वर्ष का बालक और दूसरा 4 वर्ष की बालिका है।

दो समाधियों में युग्म शवाधान के प्रमाण भी प्राप्त हुये हैं। एक समाधि में नारी बायें और पुरुष दायें रखकर दफनाये गये हैं तथा दूसरी में पुरुष नीचे और नारी उसके ठीक ऊपर है। पुरुष अपने कान में कुण्डल धारण किये है और गले में हार। एक दूसरी कब्र में भी पुरुष के गले में हार उपलब्ध हुये हैं। उल्लेखनीय है कि एक भी नारी आभूषण नहीं पहने है। लगता है आभूषण से अपने को

सुसज्जित करने की परम्परा पुरुष तक ही सीमित थी। प्रागैतिहासिक भारत में आभूषण के प्रयोग का यह प्राचीनतम प्रमाण है। ये आभूषण छिद्रयुक्त गोलाकार हड्डियों को प्रायः बारहसिंघे की सींग के निचले भाग को काट कर बनाये गये हैं। उत्खनन में कई आभरण निर्माण की विभिन्न अवस्थाओं में प्राप्त हुये हैं जिनसे इनकी निर्माण प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है।

दमदमा, महदहा और सराय नाहर राय के मध्य पाषाणिक मानव सामान्यतः 1.80 मीटर लम्बे थे जिन्हें डोलिको सेफालिक प्रजाति का माना गया है। हाथ पैर की हड्डियों के दोनों सिरों के अस्थि करण, कपाल की संधि रेखाओं के विलयन, ठुड्डी तथा शवों की अवस्था के आधार पर विभिन्न नरकंकालों को 17 से 35 वर्ष की आयु निर्धारित की गयी है। महदहा में बच्चों के अतिरिक्त लगभग 50 वर्ष की एक वृद्धा का नरकंकाल प्राप्त हुआ है। तत्कालीन जीवन की दुरुहता संभवतः मनुष्यों को अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहने देती थी।

सराय नाहर राय और महदहा दोनों ही इन स्थलों पर आवास और समाधियां पास ही पास मिले हैं। जहाँ पर लोग निवास करते थे वहीं पर अपने मृतकों के लिये समाधियाँ भी बनाते थे। महदहा में गर्त चूल्हे सराय नाहर राय की तरह गोल अथवा अण्डाकार हैं लेकिन कभी–कभी इन्हें गीली मिट्टी से लीपा जाता था। मिट्टी का यह लेप भी पक गया है। सम्भवतः लेपयुक्त गर्तचूल्हों में मांसपिण्ड रख कर, ऊपर घास फूस रख दिया जाता था और मिट्टी के टुकड़ों से ढक कर आग लगा दी जाती थी। यही कारण है कि इन चूल्हों में जली हड्डियाँ और राख के अतिरिक्त जली मिट्टी के टुकड़े भी प्राप्त होते हैं।

सराय नाहर राय की ही तरह महदहा का मध्यपाषाणिक स्थल भी धनुषाकार झील के किनारे स्थित है। आवास स्थल और वधक्षेत्र से लगे हुये झील में जानवरों की हड्डियाँ, लघुपाषाण उपकरण आदि प्राप्त हुये हैं। झील के दक्षिणी पश्चिमी किनारे किये गये उत्खनन के परिणाम स्वरूप जमाव के 10 स्तर प्रकाश में आये। तट पर भी इसकी गहराई 1.90 मीटर है। मध्य पाषाण काल के अवशेष झील में नीचे के दो स्तरों 9 और 8 से मिले हैं जिसके अन्तर्गत लघुपाषाण उपकरण, जलीय मिट्टी के टुकड़े, हड्डियों के उपकरण, जानवरों की हड्डियां, सिललोढ़ों के खण्डित भाग आदि सम्मिलित हैं। मध्य पाषाणिक संस्कृति के अवसान के बाद भी प्राकृतिक कारणों से झील में अवसादन होता रहा जिसमें आवास स्थल से जानवरों की हड्डियां, लघुपाषाण उपकरण आदि बहकर जमा होते रहे। झील के विविध स्तरों की मिट्टी में मिले पुष्प परागों के विश्लेषण का कार्य इलाहाबाद विश्वविद्यालय का वनस्पति विभाग कर रहा है। अभी तक जो परिणाम मिले हैं उनसे यह कहा जा सकता है कि मध्य पाषाण काल में यह क्षेत्र घास के मैदान और झाड़ियों से आच्छादित था।

महदहा के बधक्षेत्र और झील से जिन जानवरों की हड्डियां मिली हैं उनमें बैल, जंगली भैंसा, हिरण, बारह सिंघा, सुअर, दरियाई घोड़ा, गैंडा, हाथी, और घोड़ा आदि का उल्लेख किया जा सकता है। ये सब जानवर जंगली हैं। पशु पालन का कोई प्रमाण नहीं मिलता। प्रो. के. आर. आलूर ने महदहा की भेड़ बकरियों के हड्डियों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला है कि यहाँ पर चार प्रकार

की भेड़ बकरियाँ थी। संभवतः अब मानव इन पशुओं के अत्यधिक निकट आ रहा था। असम्भव नहीं यदि पशुपालन प्रारम्भ होने की प्रक्रिया के प्राथमिक प्रमाण यहां से मिलें।

उल्लेखनीय है कि महदहा से लघुपाषाण उपकरण सराय नाहर राय की अपेक्षा संख्या में कम हैं। इसी कमी को पूरा करने के लिये सम्भवतः हड्डियों पर उपकरण बनाये गये। हड्डी के बने उपकरणों में वाणाग्र, नोक, खुर्चनी, आरी, रुखानी आदि उल्लेखनीय हैं। हड्डियों के बने वाणाग्रों का भारत में प्राचीनतम प्रमाण महदहा के उत्खनन में ही प्रस्तुत किया है।

बलुआ पत्थर पर बने सिललोढ़े, हाथगोले आदि भी महदहा से अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध हुये हैं। सिललोढ़ों की उपलब्धि से प्रतीत होता है कि मनुष्य अब जंगली घासों के बीज पीस कर खाने लगा था। महदहा के आवास–समाधि क्षेत्र में कुछ ऐसे गर्त प्राप्त हुये हैं जिनमें गीली मिट्टी का मोटा लेप लगाया गया है। इनमें कभी–कभी लेप की कई पर्ते भी प्राप्त होती हैं। चूंकि इन गर्तों में न तो राख मिलती है और न तो जली हड्डियां तथा जली मिट्टी के टुकड़े, इससे संभावना यही है कि इन गर्तों में खाने योग्य जंगली घासों के बीज संग्रहीत किये जाते थे। जब इनका लेप खराब होने लगता था तो इन्हें पुनः लीप दिया जाता था।

महदहा और महदहा के लघुपाषाण उपकरण भी सराय नाहर राय की ही तरह चर्ट, चैल्सिडनी, कार्नेलियन, अगेट और जैस्पर पत्थरों पर बने हैं। उपकरण प्रकारों में समानान्तर वाहुवाले ब्लेड, भूथड़े ब्लेड, नोक, खुर्चनी, तक्षणी, त्रिभुज और समलम्ब, चतुर्भुज सम्मिलित हैं। सराय नाहर राय से समलम्ब चतुर्भुज नहीं मिले। विन्ध्य क्षेत्र में लेखहिया[12] और चोपनी भाण्डों के उत्खनन से इस बात के प्रमाण मिले हैं कि समलम्ब चतुर्भुज का ज्ञान मनुष्य को त्रिभुज के बाद हुआ। इस आधार पर कहा जा सकता है कि महदहा की मध्य पाषाणिक संस्कृति कालक्रम में सराय नाहर राय के बाद की है। सराय नाहर राय में सिललोढ़े, हड्डियों के वाणाग्र तथा आभूषण आदि का न मिलना भी महदहा को उसके बाद का प्रमाणित करता है।

विन्ध्य क्षेत्र में, जहाँ से इस संस्कृति के लोग पत्थर पिण्ड लेकर जीविका की तलाश में आये, लोग पहाड़ की गुफाओं अथवा खुले स्थानों पर रहते थे। वहाँ ये लोग शिलाश्रयों की दीवालों और छतों पर तत्कालीन पशुओं के चित्र, आखेट दृश्य, धनुषबाण धारण किये मनुष्यों तथा नृत्य करते पुरुष महिलाओं सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ इण्डिया बनाते थे। जिन रंगों से ये चित्र बनाये गये हैं उनके प्रमाण गेरू पिण्डों के रूप में शिलाश्रयों के उत्खनन से प्राप्त हुये हैं। इस संस्कृति के गंगाघाटी के स्थलों पर शिलाश्रयों के अभाव में इनकी कलात्मक अभिरुचि के कोई प्रमाण नहीं मिलते। लेकिन घिसे हुये गेरुवे, टुकड़े प्राप्त हुये हैं। इन गेरु पिण्डों से निकले रंग का प्रयोग कहाँ किया जाता था। इसका कोई पुरातात्विक प्रमाण हमारे पास नहीं है। संभव है चेहरे को अलंकृत किया जाता हो या पशुओं की खाबों पर चित्र बनाये जाते हों। कुछ हड्डियों के उपकरणों को रेखायें उत्कीर्ण करके अलंकृत करने का प्रमाण अवश्य मिला है।

गंगाघाटी की मध्य पाषाणिक संस्कृति को क्या समय–प्रदान किया जाय? सराय नाहर राय

से एक कार्बन तिथि 8395 ± 110 ई.पू.)[13] प्राप्त हुई है। अज्यामितीय मध्य पाषाणिक संस्कृति को इसके पहले का और महदहा की मध्य पाषाणिक संस्कृति को इसके बाद का समय दिया जा सकता है। विन्ध्य क्षेत्र के लेखहिया से दो कार्बन तिथियां 1710 ±110 ई. पू. और 2410 ±115 ई.पू.[14] प्राप्त हुई हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि गंगा घाटी में भी यह संस्कृति संभवतः 2000 ई. पू. तक चलती रही।

3. नव पाषाणिक संस्कृति – मध्य गंगा घाटी के पश्चिमी भाग में जहाँ से मध्य पाषाण संस्कृति के बहुत से स्थल प्रकाश में आये हैं अभी तक कोई नवपाषाणिक स्थल नहीं मिला है। लेकिन इसके पूर्वी भाग में चिरोद, चेचर, सेनुआर, आदि स्थल प्रकाश में आये है जिनके एक स्थल–चिरोद प्रकाश में आया है जिसके उत्खनन से इस संस्कृति के विविध अवयवों पर प्रकाश पड़ा है।

चिरोद (अक्षांश 25° 45′ उत्तर, देशान्तर 84° 45′ पूर्व) बिहार के सारन जिले में गंगा के बायें तट पर स्थित है। इस स्थल पर क्रम से नव पाषाणिक, ताम्र पाषाणिक और लौहे काल के सांस्कृतिक जमाव प्राप्त हुये हैं।[15] डा. वी.पी. सिन्हा के नेतृत्व में किये गये उत्खनन से यहाँ पर नवपाषाण काल का 3.5 मीटर मोटा जमाव प्राप्त हुआ है।

चिरोद के नव पाषाणिक धरातल[16] का क्षैतिज उत्खनन नहीं किया गया हैं। इसके लिये उनके गृह निर्माण और आवासीय अवशेषों पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ा है। लेकिन गोलाकार या अर्द्धगोलाकार झोपड़ियों के प्रमाण उत्खनन से उपलब्ध हुये हैं। जली मिट्टी के ऐसे टुकड़े जिन पर बॉस और लकड़ी के निशान है, यह बताते हैं कि इस संस्कृति के लोग झोपड़ियों की दीवाल लकड़ी और बांस से बना कर उन पर मिट्टी का मोटा लेप लगाते थे।

चिरोद से क्वार्टजाइट, बेसाल्ट या ग्रेनाइट पत्थरों पर बने हुये सिल लोढ़े, हथ गोले, हथौड़े और कुल्हाड़ियां प्राप्त हुई हैं। यहाँ की कुल्हाड़ियां गोलाकार हैं। इनके निर्माण के लिए सबसे पहले फलक निकाले गये हैं फिर इन्हें गढ़कर और रगड़कर अत्यन्त चिकना और पालिशदार बनाया गया है। कुछ कुल्हाड़ियों का अनुभाग आयताकार है।

चैल्सिडनी, चर्ट, अगेट आदि महीन कण वाले पत्थरों पर बने समानान्तर बाहुवाले ब्लेड, खुर्चनी, वाणाग्र, खचित ब्लेड, नोक, दन्तुरित नोक अर्द्ध–चन्द्र छिद्रक आदि लघुपाषाण उपकरण भी यहां से प्राप्त हुये हैं। कुछ ज्यामितिक उपकरण भी लघु पाषाण उपकरणों से सम्मिलित हैं। घिस कर पालिश किये गये गोलाकार नवपाषाणिक कुल्हाड़ियों की संख्या चिरोद में कम है लेकिन हड्डियों और मृगश्रृंगों के बने हुए विभिन्न प्रकार के उपकरण यहाँ से प्राप्त हुये हैं। इन उपकरणों में सुई, नोक, छिद्रक, जिन, पुच्छल एवं छिद्रयुक्त वाणाग्र, खुर्चनी, छेनी, हथौड़े, कुल्हाड़ियां आदि सम्मिलित हैं।

नवपाषाणिक चिरोद की पात्र परंम्पराओं के अध्ययन से भी इस संस्कृति के स्वरूप पर प्रकाश पड़ा है। लाल, भूरे, काले एवं काले तथा लाल पात्र परम्परा के मिट्टी के बर्तन यहां से प्राप्त हुये

हैं। कुछ बर्तनों की ऊपरी सतह को चिकने पत्थरों से घोंटकर चिकना और चमकीला बनाया गया है। ये पात्र मुख्यतः हस्त निर्मित है लेकिन कुछ ऐसे पात्र भी हैं जिन्हें साधारण चाक पर धीरे–धीरे घुमाकर बनाया गया है। कुछ बर्तनों को गीली मिट्टी लगाकर ऊपरी सतह पर खुरदुरा भी किया गया है। बर्तनों को आसंजन विधि से अलंकृत करने अथवा पका लेने के बाद उन्हें खरोंच कर अलंकृत करने का प्रमाण भी प्राप्त होता है। एक पात्र पर सोलह तीलियों वाले धुरी युक्त चक्र का आरेखण उल्लेखनीय है। भूरे रंग के बर्तनों पर पका लेने के बाद लाल गेरू से चित्र बनाये गये हैं। चित्रित अभिप्रायों में एक दूसरे को आर–पार काटती रेखायें, संकेन्द्रिक वृत्त और लहरदार रेखायें सम्मिलित हैं। एक पात्र खण्ड पर बिन्दुओं से त्रिशूल का चित्र बनाया गया है। लाल गेरू से चित्रित ये अभिप्राय कभी–कभी लाल तथा काले और लाल पात्र परम्परा के बर्तनों पर भी प्राप्त होते हैं। चिरोद से एक पात्र खण्ड ऐसा भी प्राप्त हुआ है जिस पर चटाई की छाप है। बर्तन आकारों में चौड़े अथवा संकरे मुंह वाले गोलाकार घड़े, टोंटीदार घड़े, आधार वाले कटोरे, छिद्रयुक्त, होंठदार अथवा टोंटीदार कटोरे और लम्बे तथा छोटे नलीदार टोंटी के बर्तन सम्मिलित हैं।

चिरोद के नवपाषाण कालीन लोगों के कलात्मक अभिरुचि को अभिव्यक्त करने वाले उपादानों में उपरत्नों पर बने हुये सुन्दर मनके हड्डी के कुण्डल और झुमके, मिट्टी तथा हड्डियों की चूड़ियां, कूबड वाले बैल, चिड़िया तथा नाग की मृण्मूर्तियों का उल्लेख किया जा सकता है।

अन्य नवपाषाणिक संस्कृतियों की ही तरह चिरोद की नवपाषाणिक, संस्कृति की अर्थ व्यवस्था खेती और पशुपालन पर आधारित थी। जली मिट्टी के टुकड़ों में धान की भूसी के प्रमाण प्राप्त हुये हैं। धान के अतिरिक्त गेहूँ, जौ, मूँग और मसूर से भी यहाँ के लोगों का परिचय था। गाय बैल और भैंस की हड्डियां प्राप्त हुई है जो इनके पालतू पशु रहे होंगे। इसके अतिरिक्त हाथी, गैंडा, हिरन तथा बारहसिंघा आदि जंगली जानवरों की हड्डियां भी उत्खनन में प्राप्त हुई हैं।

पूर्वी मध्य गंगा घाटी की इस नवपाषाण संस्कृति की विन्ध्य क्षेत्र की नव पाषाणिक संस्कृति से तुलना करने पर हमें कुछ मनोरंजक तथ्य प्राप्त होते हैं। विन्ध्य क्षेत्र में नवपाषाण संस्कृति के कई स्थलों का उत्खनन किया गया है। बेलनघाटी में कोलडिहवा, पंचोह और महगड़ा के उत्खनन से इस संस्कृति में गोलाकार नवपाषाणिक कुल्हाड़ियां, सिललोढ़े, लघुपाषाण उपकरण, मिट्टी के मनके, हड्डी के बने वाणाग्र और गोलाकार अथवा अण्डाकर झोपड़ियों के प्रमाण प्राप्त हुये हैं। यहां के लोग धान की खेती करते थे और गाय बैल, भेड़–बकरी, घोड़े आदि पशुओं को पालते थे। पाषाण उपकरणों के अध्ययन और पालतू तथा जंगली गाय बैली, भेड़ बकरी के साथ–साथ मिलने के आधार पर यह माना गया है कि विन्ध्य क्षेत्र की नव पाषाण संस्कृति ने स्थानीय जंगली पशुओं को ही पालतू बनाया। यहां से उपलब्ध कार्बन तिथियों के आलोक में धान की खेती सर्वप्रथम प्रारम्भ करने का भी श्रेय विन्ध्य क्षेत्र की इस संस्कृति को है। इस संस्कृति को पांचवी–छठी सहस्राब्दी का समय प्रदान किया गया है।

विन्ध्यक्षेत्र के नव पाषाण संस्कृति की पात्र परम्परायें पूर्णतः हस्तनिर्मित हैं। यहाँ की कुछ पात्र

परम्परा के बर्तनों की ऊपरी सतह पर रस्सी की छाप अथवा कछुये की हड्डी से पीटकर अलंकृत किया गया है और कुछ की ऊपरी सतह को खुरदुरा बनाया गया है।[17] कुछ पात्रों की ऊपरी सतह को घोंटकर चिकना और चमकीला किया गया है। पात्रों को घोंटकर चिकना बनाने की प्रथा से दोनों संस्कृतियों का परिचय था। एक ही तरह के घड़े और कटोर तथा टोंटीदार बर्तन भी दोनों संस्कृतियों से प्राप्त हुये हैं।

दोनों संस्कृतियों के नवपाषाणिक कुल्हाड़ियों में साम्य है और एक ही तरह के लघु पाषाण उपकरण भी प्राप्त होते हैं। चिरोद में पात्रों को पकाने के बाद चित्रित भी किया गया है। लेकिन विन्ध्य क्षेत्र में पात्रों को चित्रित करने की परम्परा नहीं थी और न तो उन्हें पकाने के बाद खरोंच कर अलंकृत ही किया गया है। चिरोद में मिलने वाली मृण्मूर्तियां भी महगड़ा कोलडिहवा और पंचोह से नहीं मिली हैं। हड्डियों के बने उपकरणों की संख्या भी विन्ध्यक्षेत्र में अधिक नहीं है। रस्सी अथवा कछुये की हड्डी की छाप वाले मिट्टी के बर्तन जो विन्ध्य क्षेत्र की नवपाषाणिक संस्कृति का चारित्रिक लक्षण है, चिरोद में बिलकुल ही नही मिलते। उपरोक्त विश्लेषण से यही प्रतीत होता है, कि चिरोद की नवपाषाण संस्कृति अधिक विकसित हैं जबकि विन्ध्यक्षेत्र की यह संस्कृति अभी भी शैशवावस्था में है।[18] उपलब्ध कार्बन तिथियों के आलोक में भी चिरोद की नवपाषाण संस्कृति विन्ध्य क्षेत्र की संस्कृति के काफी बाद की प्रमाणित होती है।

चिरोद के नव पाषाणिक धरातल से कुल 9 कार्बन तिथियां प्राप्त हुई है जिनमें से तीन तिथि ये 1580 ± 110, 1675 ± 155 ई.पू. को उपयुक्त माना गया है।[19] नवपाषाणिक और ताम्र पाणिक धरातलों के संधि स्थल से 1050 ± 190 ई. पू. की एक तिथि प्राप्त हुई है। इस आधार पर चिरोद की नवपाषाण संस्कृति को 1800 ई.पू. से 1200 ई.पू. के मध्य रखा गया है।[20] चूंकि निचले धरातल से कोई तिथि नहीं मिली है इसलिये इस संस्कृति का प्रारम्भ 2000 ई.पू. या इससे भी पूर्व का समय देने की संस्तुति की गयी।[21] यहाँ के अवसादन दर की गणना के आधार पर इस संस्कृति का प्रारम्भ और भी पहले 4000 से 3000 ई.पू. तक ले जाने की प्रस्तावित किया गया है।[22] कहने की आवश्यकता नहीं कि गंगा के मैदान की इन पाषाण कालीन संस्कृतियों ने परवर्ती विकसित संस्कृतियों को ठोस आधार प्रदान किया था।

सन्दर्भ

1. शर्मा, जी.आर., 1973, स्टोन एज इन दि विध्याण एण्ड दि गंगा वैली, रेडियो कार्बन डेट्स एण्ड इण्डियन आक्यिोलॉजी, सं.डी.पी. अग्रवाल और ए. घोष, पृ. 106–80
2. शर्मा, जी.आर., 1973, मेसोलिथिक लेक कलचर्स इन द गंगा वैली, प्रोसीडिंग्स ऑफ द प्री हिस्टारिक सोसायटी, वाल्यूम 31 पृ. 129–30.
3. शर्मा, जी.आर., 1975, सीजनल माइग्रेशन्स एण्ड मेसोलिथिक लेक कलचर्स आफ द गंगावैली के.सी. चट्टोपाध्याय मेमोरियल वाल्यूम पृ. 5–6
4. शर्मा, जी.आर., 1975, सीजनल माइग्रेशन्स एण्ड मेसोलिथिक लेक कलचर्स ऑफ द गंगा वैली, के.सी. चट्टोपाध्याय मेमोरियल वाल्यूम पृ. 9.

5. शर्मा, जी.आर., 1978, प्रागैतिहासिक मानव की कहानी : गंगाघाटी की प्राचीन संस्कृति पर नया प्रकाश, दिनमान, भाग 14, अंक 34, 20–26 अगस्त, 1978, पृष्ठ 24
6. शर्मा, जी.आर. और अन्य, 1980, फ्राम हंटिग, गैदरिंग टू फूड प्रोडक्शन एण्ड डोमे एटीकेशन ऑफ एनीमल्स : इक्टा कैवेशन्स एट चोपनी माण्डो, महदहा एण्ड महगडा
7. वही
8. सीनद डेटलिस्ट जुलाई 1973, फिजिकल रिसर्च लेवोरेटरी, अहमदाबाद
9. ये सब पुरातात्विक स्थल प्रयाग विश्वविद्यालय प्रो. जी.आर. शर्मा के निर्देशन में किये गये गहन सर्वेक्षण के परिणामस्वरूप प्रकाश में आये हैं।
10. शर्मा, जी. आर., 1973, मेसोलिथिक लेक कलचर्स इन द गंगा वैली, प्रोसीडिंग्स ऑफ द प्री हिस्टारिक सोसायटी, वाल्यूम 39, पृष्ठ 134–146.
11. इण्डियन आर्क्यालॉजी : एरिव्यू 1978'78 और 78–79
12. मिश्र, वी.डी., 1977, सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ इण्डिया आर्क्यालॉजी पृष्ठ. 53
13. टी. आई. एफ.आर., 1971, डेटलिस्ट (टी.एफ. 1104)
14. अग्रवाल, डी.पी. और कुसुमनगर, शीला, 1974, प्रीहिस्टारिक क्रोनोलॉजी एण्ड रेडियो कार्बन डेटिंग इन इण्डिया पृष्ठ. 6
15. चिरोद का उत्खनन विहार प्रान्त के पुरातत्व विभाग द्वारा डा. वी.पी. सिन्हा के निर्देशन में किया गया। देखिये एण्डियन आक्योलॉजी ए रिव्यू 62–63 पृ. 6, 63–64 पृष्ठ 6–8, 68–69 पृष्ठ 5–6, 69–70 पृ. 3–4, 70–71 पृष्ठ 6–7, 71–72 पृ. 6–7
16. नारायण, एल.ए., 1970, नियोलिशिक सेटिलमेन्टएट चिरोद, जर्नल ऑफ विहार रिसर्च सोसायटी, वाल्यूम 56 पृष्ठ 1–35 वर्मा, वी.एस, 1971, इक्शकैवेसन्स एट चिरोद न्यू लाइट ऑन इण्डियन नियोलिथिक कलचर काम्पलेक्स पुरातत्व नं. 4. पृष्ठ 18–22
17. मिश्र, वी.डी., 1977, समऐस्पेक्ट्स आफ इण्डियन आर्क्यालोजी, पृ.116
18. मण्डल, डी., 1972, रेडियो कार्बन डेट्स एण्ड इण्डियन आर्क्यालोजी, पृष्ठ 204–6.
19. अग्रवाली, डी.पी. और कुसुमगर, शीला, 1973, प्रीहिस्टारिक क्रोनोलाजी एण्ड रेडियो कार्बन डेटिंग इन इण्डिया, पृ.71
20. वर्मा, वी.एस., 1971 वहीं पृष्ठ.22
21. विष्णु मित्रे, 1975

रोहतक की प्राचीन मृण्मूर्ति कला

प्रो. सतदेव*

कला के विभिन्न साधनों में मिट्टी को भी स्थान प्राप्त है। इससे कलाकृतियों का निर्माण करना सहज होता है। भारतीय कला के इतिहास में मिट्टी से निर्मित मूर्तियों का महत्वपूर्ण स्थान है। ईसा पूर्व तीन हजार वर्षों से आज तक इस साधन का प्रयोग होता रहा है। भारतीय इतिहास में कई युगों की मृण्मूर्तियाँ प्रस्तर प्रतिमाओं से अभिव्यक्ति में कम सुन्दर नहीं। साधारणतया ग्रामीण कलाकार मिट्टी का प्रयोग करते रहे। नगरों में निर्मित कलात्मक नमूनों की तुलना में मिट्टी के आकार उतने आकर्षक नहीं थे, तो भी मिट्टी से तैयार कृतियों का कला में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। हरियाणा में मृण्मूर्ति–कला हड़प्पा सभ्यता से लेकर आठवीं–नवीं शताब्दी तक चलती रही[1]। मृण्मय वस्तुएं विभिन्न उद्देश्यों के लिए बनाई जाती हैं। कुछ घरेलू उपयोग के लिए कुछ धार्मिक कार्यों के लिए, कुछ केवल सजावट के लिए, जबकि बड़ी संख्या में इनका उपयोग बच्चों के खिलौनों के लिए किया जाता था[2]। प्राचीन भारतीय कलाकृतियों के अध्ययन से तत्कालीन धर्म, समाज एवं सांस्कृतिक जीवन से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों पर प्रकाश पड़ता है। साहित्य में मिट्टी की मूर्तियों का वर्णन मिलता है। महाभारत[3], मार्कण्डेय पुराण[4], जातक[5], हर्षचरित[6] तथा काश्यपसंहिता[7] में इनका उल्लेख हुआ है। हरियाणा के पुरातात्विक उत्खननों से मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। यह मृण्मूर्तियाँ सुघ, अग्रोहा, थानेसर, पेहोवा, नचारखेड़ा से पायी गयी है। सुध से प्राप्त शुंगकालीन फलक में एक बच्चे को अक्षर लिखते दिखलाया गया है। नचारखेड़ा से रामायण के श्लोकों से अंकित फलक पाये गये हैं। रोहतक भी इसका अपवाद नहीं है। रोहतक की पहचान खोखराकोट के टीलों से की गयी है। खोखराकोट के उत्खनन तथा अन्वेषण से ज्ञात हुआ है कि यहाँ पर दीर्घकाल तक आवास होता रहा। शोधकर्ता को मूर्तियों में स्त्री व पुरुष आकृतियाँ, पशु पक्षियों की आकृतियों, खिलौने तथा अन्य विविध मृण्मय वस्तुएँ अन्वेषण से प्राप्त हुई हैं। खोखराकोट से प्राप्त मृण्मूर्तियों का यहाँ पर अध्ययन किया गया है।

मौर्य–शुंग कालीन मृण्मूर्तियाँ

खोखराकोट से प्राप्त मौर्य–शुंग कालीन मृण्मूर्तियाँ सबसे प्राचीन हैं।[7अ] इन मृण्मूर्तियों को बच्चों के खिलौने के रूप में बताया गया। इनमें गज तथा मेढ़े का चित्रण मिलता है। सांचे से बना स्त्री का आवक्ष अंकन (माप 6×3 से.मी.) खोखराकोट से मिला है। इसमें चेहरा आँखों के साथ नीचे की ओर धसा हुआ है। नासिका बनाने के लिए चेहरे को ऊपर उठाया गया। इसमें स्त्री के स्तनों को छोटा और नुकीला दिखाया गया है। बांया स्तन टूटा हुआ है। स्त्री की गर्दन के ऊपर कुछ रेखाएं हैं जो आभूषण दर्शाने के लिए बनाई गई हैं। यह शुंगकाल के मृण्मय उदाहरणों के समान है जो 200 ई.पू. के हैं। एक अन्य मृण्मय स्त्री अंकन (माप 5×3 से.मी.) में कर्ण आभूषण दिखाये गये हैं। यह हल्के धूसर रंग का है जो अच्छी तरह पकी नहीं है। इसमें मूर्ति का चेहरा कटा हुआ है।

***पूर्व अध्यक्ष, प्रा. भा. इ. सं. एवं पुरातत्त्व विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र**

इसके निर्माण में अच्छी मिट्टी का प्रयोग नहीं किया गया है और न अच्छी तरह पकाई गई है। यह मृण्मूर्ति लगभग 100 ई.पू. की है।[7व]

कुषाण कालीन मृण्मूर्तियाँ

स्त्री का आवक्ष अंकन

यह मृण्मूर्ति खोखराकोट अन्वेषण के दौरान मिली है जिसमें मृण्मय स्त्री आकृति का आवक्ष अंकन है। स्त्री का दाहिना हाथ वक्ष के निकट है उसमें भुजबंध तथा चूड़ियाँ पहन रही है। उसके कानों में कुण्डल हैं। उसके कण्ठ में नाभि के समीप तक पहुँचती माला है जिसमें दो गोल मनकों के बीच ढोलकनुमा पदक है। स्त्री का सिर तथा मुख आदि को भद्दे ढंग से बनाया गया है। यह मातृदेवी की प्रतिमा लगती है जो कुषाण कालीन है।

रोहतक से प्राप्त एक अन्य मृण्मय फलक[8] जो मातृदेवी की है, में हाथ तथा पैर खण्डित हैं। उसके नेत्र पत्ते के आकार के हैं तथा उरोज गोलाकार हैं जो अलग से चिपकाकर लगाये गये हैं। उसकी मुखाकृति और आभूषण भी मिट्टी को दबाकर बनाए गए हैं। कला शैली के आधार पर इसे कुषाण काल में रखा जा सकता है। मातृदेवी की पूजा सैन्धव काल व उससे पूर्व भी की जाती थी, ऐतिहासिक काल में उसकी पूजा विभिन्न रूपों में प्रचलित रही जो आज तक विद्यमान है।

सिर विहीन मृण्मय देवी

इसमें देवी को बाएं हाथ में, जो घुटनों के समीप है, परशु पकड़े दिखलाया गया है। देवी ने कण्ठाभरण, भुजबन्ध एवं चूड़ियाँ धारण किए हैं। इसमें देवी का कण्ठाभरण विशेष महत्व का है जिसमें विभाजित आयताकार पट्टियों को वृत्ताकार पदकों से संयुक्त कर एक आकर्षक का रूप दिया गया है। देवी का दाहिना हाथ घुटने पर टिका है। इस अंकन में देवी के पुष्ठ स्तनों को नग्न दिखलाया गया है जो मातृत्व का प्रतीक है। देवी का नाभि के नीचे का शरीर साड़ी से ढका है। यह कटि के चारों ओर कर्धनी से बँधी है। यह भी कुषाण कालीन मृण्मूर्ति है।

सिर विहीन मृण्मय यक्ष

इस मृण्मूर्ति में दो भुजी यक्ष को किसी आसन पर दोनों पैर आधार पर रखे दिखलाया गया है। देवता के हाथ घुटनों पर टिके हैं जिनमें कुछ वस्तु दिखलायी गयी थी जो टूट गई है। उन्हें धोती पहने दिखलाया गया है। इसके अतिरिक्त कण्ठ में ग्रैवेयक और भुजाओं में भुजबंध का भी चित्रण है। यह मृण्मूर्ति कुषाण काल (दूसरी–तीसरी शती) की है।

नाग–नागिन

नागों को या तो पूर्णतया सर्प अथवा अर्द्ध–मानव–अर्द्ध–सर्प के रूप में दिखलाया जाता है। मूर्ति–विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों के अनुसार नाग मूर्तियों में दो, तीन या चार, पाँच या सात फण होने चाहिए। लालकोट से कुषाणकालीन एक नाग–नागिन की मूर्ति प्राप्त हुई है जिनका कटि के ऊपर का भाग मानव रूप में तथा कटि के नीचे का भाग सर्प के समान है। नीचे का भाग कुण्डलित है। इसमें नाग–नागिन समभंग–मुद्रा में खड़े हैं जिनके सिर पर तीन फणों का छत्र है। नाग हाथ जोड़े है तथा नागिन दाहिना हाथ उठाकर समझा रही है। यह नागों से संबंधित किसी कथानक का चित्रण लगता है।

अर्चा सरोवर

हाथ से बना मिट्टी का अर्चा सरोवर। इसके दो भागों में विभाजन करने वाली मिट्टी पर तीन दीपकों का अंकन है। इसके अतिरिक्त बीच वाले दीपक के सामने भी दो अन्य दीपकों की व्यवस्था है। यह कुषाण कालीन कलाकृति है। अर्चा सरोवर उत्तरी–पश्चिमी भारत से लेकर बंगाल तक बनाये जाते रहे हैं। इनका प्रचलन पार्थियन–शक काल में हुआ। खोखराकोट जैसा अर्चा सरोवर किसी भी स्थल से नहीं मिला है।
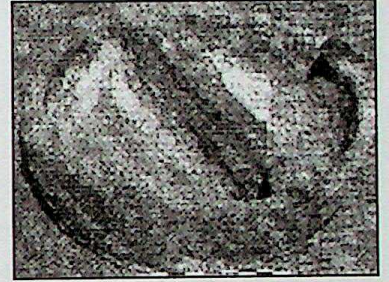
सुराही के हत्थे पर चित्रण

टोंटीदार बर्तन के सांचे से निर्मित हत्थे पर खड़ी हुई स्त्री की आकृति बनी है। स्त्री के दोनों हाथ नमस्कार मुद्रा में जुड़े हैं। स्त्री ने अधोवस्त्र, संभवत साड़ी पहन रखी है। यह भी कुषाण काल का अंकन है।[8अ]

मृण्मय बैल

खोखराकोट से बैल की एक मृण्मूर्ति पर्याप्त अलंकृत मिली है। इसमें पैरों का निचला भाग नहीं दिखलाया गया है। मूर्ति का मस्तक, गला तथा कंध ाा भी अलंकृत है।
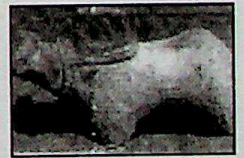
कुषाण–गुप्त मृण्मूर्तियाँ

खोखराकोट से कुछ स्त्री तथा पुरुष मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई है जो आभूषणों आदि की दृष्टि से कुषाण मूर्तियों की परम्परा में बनयी गयी किन्तु उनके चेहरे का भाव गुप्तकालीन परम्परा में है। इसलिए इन्हें कुषाण–गुप्त काल के बीच की कृति माना जा सकता है।

गुप्तकालीन मृण्मूर्तियाँ

गुप्तकाल में मृण्मूर्ति का पर्याप्त विकास हुआ। मृण्मूर्तियों में शिल्पकला की भाँति आन्तरिक भावों को व्यक्त किया गया है। यह अत्यन्त सजीव तथा आकर्षक है। इसके अतिरिक्त मृण्मूर्ति कला का उपयोग इस काल में मन्दिरों को सजाने में भी किया गया। खोखराकोट से गुप्तकालीन कई मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनसे वहाँ के कुम्भकारों के कलात्मक ज्ञान की जानकारी मिलती है।

मृण्मय फलक

खोखराकोट की एक मृण्मय फलक, जिसका माप 5.3×4.5 से.मी. है, में एक स्त्री का आवक्ष अंकन है। वह एकावली पहने है। कंधों पर केश के फुल्ले लटक रहे हैं। बालों को आकर्षक ढंग से दायीं ओर जूड़े के रूप में संवारा गया है। स्त्री का मुख भाग क्षतिग्रस्त है। यह आवक्ष आकृति अर्धवृत्ताकार झरोखे में दिखाई गई हैं। गुप्तकालीन मृण्मय मूर्ति है जो किसी मन्दिर के अलंकरण के लिए निमित की गई थी। स्त्रियों के ऐसे अंकन भीतर गांव इष्टिका मन्दिर (जिला कानपुर उत्तर प्रदेश) में आज भी देखे जा सकते हैं। यह मन्दिर गुप्तकाल में निर्मित हुआ था।

मृण्मय वृत्ताकार फलक

खोखराकोट से प्राप्त यह मृण्मय फलक कलात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यह दोनों ओर अलंकृत है। इसके अग्रभाग पर तीन धड़युक्त एवं आकृतियाँ बनी हुई हैं। पृष्ठ भाग पर एक वृत्ताकार घेरा है जिसके चारों ओर पुष्प–पत्र चित्रित हैं। कलात्मक दृष्टि से पृष्ठ भाग अत्यन्त आकर्षक व सुन्दर है। सम्पूर्ण चित्रण में पुरुष का सिर इस ढंग से बनाया गया है कि यह तीनों आकृतियों के धड़ से अलग–अलग समीचीन बैठता है। इन आकृतियों के शरीर आभूषणों से सुसज्जित हैं। वे विभिन्न दृष्टिकोणों से देखे जा सकते हैं। दो आकृतियों को छिपाकर किसी भी एक आकृति को भागती या बैठी मुद्रा में देखा जा सकता है। मध्य चित्रण ललितासन–मुद्रा में है तथा पत्रों सहित एक फूलों के गुच्छे को उठे हुए हाथों में पकड़े हुए है। उसके बायीं ओर की आकृति अपने बायें हाथ को उठाए दाहिनी ओर भागती लगती है तथा दाहिनी ओर की आकृति अपने दाहिने हाथ में उसी वस्तु को लिए दाहिनी ओर भाग रही प्रतीत होती है। डॉ. शुक्ल के अनुसार, यह अंकन धार्मिक न होकर पूर्णतया कलात्मक अभिप्राय है।[9] यह फलक चौथी–पाँचवीं शती का है।

स्त्री का मृण्मय सिर

सांचे द्वारा निर्मित मृण्मय स्त्री आकृति का सिर (माप 3.5X3 से.मी.) की मुखाकृति सुन्दर एवं आकर्षक है।[10] इसमें स्त्री की नासिका लम्बी तथा मुखाकृति का आकार गोल है। स्त्री के कंधों को बड़े सुन्दर ढंग से सजाया गया है। सिर के दोनों तरफ त्रिपत (त्रिशूल) है जिसे एक बन्ध से बाँधा गया है। इस प्रकार की मृण्मूर्तियाँ अहिच्छत्र[11], राजघाट[12] और कुम्राहार[13] से भी प्राप्त हैं।

रोहतक की प्राचीन मृण्मूर्ति कला
स्त्री का कटि से नीचे का भाग

मृण्मय फलक, जिसमें एक खड़ी स्त्री का कटि से नीचे पैरों तक का भाग सुरक्षित है, में स्त्री ने अलंकृत साड़ी पहनी है। नाभि से नीचे पैरों तक अलंकृत पट्टी लटक रही है। पैरों में कड़े पहने है। स्त्री के दोनों ओर मकर चित्रित रहे थे। मकर होने से इस अंकन की पहचान गंगा नदी से भी की जा सकती है। यह मृण्मय फलक गुप्तकालीन है।

बैठी हुई स्त्री का चित्रण

खोखराकोट से प्राप्त मृण्मय फलक का अधो भाग, जिसमें एक बैठी हुई स्त्री का चित्रण रहा था, में कड़ा पहने पैर मात्र शेष है। उसने साड़ी पहन रखी है। यह भी गुप्त काल का चित्रण है।

मृण्मय वास्तु खण्ड

इसमें मन्दिर की चन्द्रशालिका का चित्रण है। इसे एक बड़ी ईंट पर बनाया गया है। ईंट के कई पहलू हैं। मन्दिर निर्माण में छिप जाने वाला भाग खुरदरा तथा बाकी भाग पालिशयुक्त चिकना बनाया गया है। यह चौथी–पाँचवी शती का है।

मृण्मय सिंह

इसमें खोखराकोट से प्राप्त मिट्टी की सिंह की मुखाकृति पर्याप्त सजीव है। इसमें दाहिनी आँख वाला हिस्सा खण्डित है। पशु को मुख खोले जिह्वा तथा दंत पंक्ति के साथ अंकित किया गया है। यह गुप्तकालीन आकर्षक मृण्मूर्ति का भाग रहा था।

दोहरे सांचे से निर्मित खिलौने

खोखराकोट से कुछ ऐसे भी खिलौने मिले हैं जो दोहरे सांचे से बने हैं। इनमें अश्व तथा गज के सम्पूर्ण शरीर का अंकन हुआ है। इन खिलौनों का निर्माण करने वाले कुम्भकार को पशुओं के बारे में ठीक जानकारी रही थी इसीलिए मूर्तियाँ सजीव बन सकीं। यह उदाहरण गुप्तकालीन मृण्मूर्ति–कला के विकास के द्योतक हैं।

पूर्व मध्यकालीन मृण्मूर्तियाँ

पूर्व मध्यकालीन में कला के लिए पत्थर का व्यापक उपयोग हुआ। संभवतः इसी कारण कुम्मकारों को प्रोत्साहन न मिलने के कारण मृण्मूर्ति–कला के विकास में गिरावट आयी। फिर भी खिलौने के रूप में बच्चों के लिए पशु मृण्मूर्तियों का निर्माण होता रहा है।[14] खोखराकोट से इस काल के खिलौने मिले हैं। ईंटों को काटकर शिवलिंग की आकृति के दो उदाहरण भी प्राप्त हैं।[15]
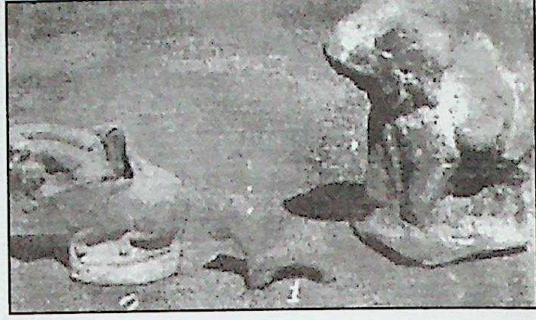
संदर्भ

1. Suraj Bhan, The Dawn of Civilization in Haryana, Journal of Haryana Studies, 1969, p.3.
2. S.C. Kala, Terracotta Figurines from Kausambi, 1950, Allahabad, p.1
3. वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, 1970, वाराणसी, पृ. 180
4. मार्कण्डेय पुराण, 13.7
5. The Jatakas, No. 465.
6. वा.श. अग्रवाल, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, 1953, पटना, पृ.71
7. U.P. Shah, A Reference to Toys in Kasyapa- Samhita, Journal of M.S. University, Baroda, Vol. 1, 1956, pp.1-5.

7अ. सतदेव, प्राचीन रोहतक : एक ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन, पी.एच.डी., शोध प्रबंध, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, 2000 (अप्रकाशित), पृ. 133, फलक 41अ

7ब. उपरोक्त, पृ. 129

8. भारत भूषण कौशिक, प्राचीन रोहतक–एक पुरातात्विक अध्ययन, कुरुक्षेत्र (एम.फिल. थीसिस), 1980, पृ. 40.

8अ. सतदेव, उपरोक्त, पृ. 136, फलक 47अ

9. S.P. Shukla, A Terracotta Medallion from khokharakot, Journal of Haryana Studies, Vol. 5, No.2, 1973, pp. 7-8.
10. Mahendra Singh, Terracottas from Rohtak (Khokharakot) Mound. Punjab University, Research Bulletin (Arts), p.147.
11. V.S. Agrawala, Terracotta Figurines from Ahichchatra, Ancient India, No. 4, pp. 143-44.
12. P.L. Gupta, Gangetic Valley Terracottas, 1972, Varanasi, pp. 79-82, Fig. 80, 81, 82.
13. A.S. Altekar, Report on Kumrahar Excavations, 1951-55, Patna, pp. 110-11.
14. सतदेव, उपरोक्त, पृ. 134 तथा आगे, फलक 41 अ, 5, 43 अ
15. वही, पृ. 137, फलक 47 ब

नेपाल की एक मनोज्ञ विश्वरूप-विष्णु प्रतिमा

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव*

भारतीय शिल्प–ग्रंथों में विष्णु के विभिन्न रूपों का विकास मुख्यतः कई विचारधाराओं के माध्यम से हुआ है। एक विचारधारा के अनुसार, सृष्टि स्थिति और संहार के पीछे विष्णु की 'इच्छा' प्रधान है। सृष्टि की इच्छा से विष्णु लक्ष्मी का सहयोग चाहते हैं जो 'भूति' और 'क्रिया' है। इस प्रकार 'इच्छा', 'भूति' और 'क्रिया' इन तीनों से षड्गुणों की उत्पत्ति होती है। ये षड्गुण हैं– ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजस्। ये ही गुण सृष्टि के उपादान हैं। फिर इन दो–दो गुणों से तीन मूर्त रूप बनते हैं जो संसार में संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हैं। वासुदेव में सभी गुण हैं। संकर्षण में ज्ञान और बल, प्रद्युम्न में ऐश्वर्य और वीर्य तथा अनिरुद्ध में शक्ति और तेजस की प्रधानता है। यही वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध वासुदेव संप्रदाय के चार प्रमुख देव माने जाते हैं।[1]

आगे चलकर विष्णु के छः गुण और उनके शंख, चक्र, गदा और पद्म आदि चार आयुधों के गुणन से उनके चौबीस रूपों की कल्पना की गयी। ये चौबीस नाम हैं– 1. वासुदेव, 2. केशव, 3. नारायण, 4. माधव, 5. पुरुषोत्तम, 6. अधीक्षज, 7. संकर्षण, 8. गोविन्द, 9. विष्णु, 10. मधुसूदन, 11. अच्युत, 12. उपेन्द्र, 13. प्रद्युम्न, 14. त्रिविक्रम, 15. नरसिंह, 16. जनार्दन, 17. वामन, 18. श्रीध्र, 19. अनिरुद्ध, 20. हृषीकेश, 21. पद्मनाभ, 22. दामोदर, 23. हरि और 24. कृष्ण। विष्णु के ये सभी 24 स्वरूप समान हैं, परन्तु उनके चारों हाथों में आयुधों की स्थिति भिन्न–भिन्न है।

दूसरी विचारधारा विष्णु के दशावतारों की है जिनमें उनके स्वरूप एक–दूसरे से भिन्न रहते हैं। ये अवतार हैं– मत्स्य, कूर्म (दोनों अपने नैसर्गिक रूपों में), नरसिंह, वराह (दोनों के शीश सिंह और वराह के किन्तु शेष धड़ मानव का, किन्तु कतिपय प्रतिमाओं में सम्पूर्ण शरीर नैसर्गिक भी दिखाया गया है।) वामन, राम, परशुराम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि।

इन दोनों विचारधाराओं से हटकर एक तीसरी

*पूर्व एसोशिएट प्रोफ़ेसर, प्रा. इति. संस्कृति एवं पुरातत्त्व, सी.एम.पी. कालेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
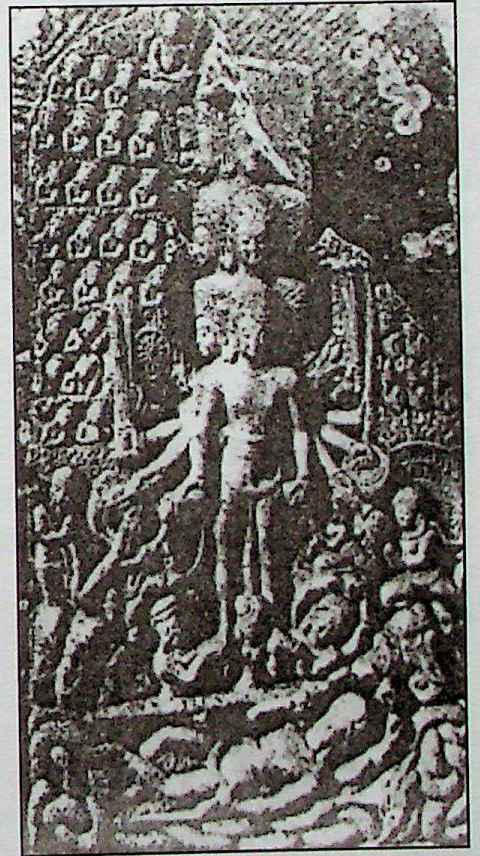
विचारधारा के अनुसार विष्णु के कतिपय विशिष्ट स्वरूपों की कल्पना की गयी जिनमें बैकुण्ठ, अनन्त, त्रैलोक्यमोहन और विश्वरूप आते हैं। ये चारों स्वरूप चतुर्मुख बताए गए हैं– सौम्य अथवा सामान्य मुख, नरसिंह मुख, वराह मुख और कपिल अथवा स्त्री मुख; किन्तु इनकी भुजाएं, क्रमशः 8, 12, 16 और 20 बतायी गयी हैं, और इसीलिए इनके आयुधों की संख्या भी तदनुसार 8, 12, 16 और 20 हैं। इन चार स्वरूपों में दो का जान लेना यहाँ आवश्यक है वैकुण्ठ और विश्वरूप का। वैकुण्ठ का नाम महाभारत के अंतर्गत विष्णुसहस्रनाम में सम्मिलित है।[2]

विभिन्न पुराणों की एक कथा के अनुसार एक बार एक शरीर में तीन राक्षस थे– सिंह, वराह और कपिल। उन्होंने तपस्या करके ब्रह्मा से यह वर प्राप्त कर लिया कि उन्हें वही मार सके जिसके शीश पर इन तीनों के मुख हों। वर प्राप्त कर लेने के बाद उन्होंने इतना उत्पात मचाया कि विष्णु को शुभ्र ऋषि की पत्नी विकुण्ठा के गर्भ से ऐसा अवतार लेना पड़ा जिसमें उनके शीश पर उन राक्षसों के शीश भी थे। विकुण्ठा के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण वैकुण्ठ कहलाकर उन विष्णु ने तब उन राक्षसों का वध किया।[3] ऐसी अनेक प्रतिमाएँ पायी जा चुकी हैं जिनमें मुख्य मुख विष्णु का पुरुषमय है और उनके कंधों से निकले हुए सिंहमुख तथा वराहमुख हैं। चौथा कपिल या स्त्रीमुख पीछे होने के कारण छिपा रहता है। चारों ओर से तराशी गयी कतिपय मूर्तियों में पीछे प्रायः अश्वमुख बना पाया गया है।[4] स्त्रीमुख वाली एक भी वैकुण्ठ की मूर्ति अद्यावधि संज्ञान में नहीं आयी है।

विष्णु का विश्वरूप उनके सर्वव्यापी विराट स्वरूप का दिग्दर्शन कराता है। विष्णु ने अपने इस विस्मयकारी स्वरूप को समय–समय पर राजा बलि, परशुराम, कौसल्या, यशोदा, अर्जुन आदि को दिखाया था। जन्म लेते ही राम चतुर्भुजी बनकर कौसल्या के समक्ष अपने विराट रूप में प्रकट हो गये। किन्तु कौसल्या ने जब शिशु लीला करने को कहा तब राम शिशु बनकर रोने लगे थे। इसी प्रकार मिट्टी खाने की शिकायत पर जब यशोदा ने कृष्ण को मुँह खोलने को कहा तो उसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड दिखायी दिया। कुरुक्षेत्र के मैदान में जब अर्जुन को परिवार–मोह उत्पन्न हुआ तब कृष्ण ने उन्हें अपना विराट स्वरूप दिखाया था। इस स्वरूप का विस्तृत वर्णन श्रीमद्भगवद्गीता में मिलता है। इसमें विष्णु के सैकड़ों–हज़ारों नाना प्रकार के नाना वर्णों के नाना आकृतियों वाले अलौकिक रूप समाहित हैं। विश्वरूप विष्णु के इस स्वरूप में द्वादश आदित्य,[5] आठ वसु[6], एकादश रुद्र,[7] दोनों अश्विनी कुमार,[8] उन्चास मरुद्गण (अध्याय 11, श्लोक 6), सचराचर संपूर्ण जगत (11/7), हजार सूर्यों का प्रकाश (दिविसूर्यसहस्रस्य, 11/12) आदि सम्मिलित थे।[9] विष्णु धर्मोत्तर पुराण (3/83/2–24) में भी विश्वरूप विष्णु की प्रतिमा में अन्य देवों तथा अनेक प्राणियों के मुखों के अंकन का निर्देश है।

वैकुण्ठ और विश्वरूप प्रतिमाओं में प्रायः मुख्य अन्तर यह होता है कि जहाँ वैकुण्ठ मूर्ति में केवल विष्णु के चार मुख (सामने से दृष्टव्य केवल तीन) होते हैं और उनके साथ किसी अन्य देव की मूर्ति नहीं होती है, वहीं विश्वरूप प्रतिमा में विष्णु के चार मुखों के अतिरिक्त अन्य मुख भी होते हैं तथा उनके प्रभामण्डल में अथवा पृष्ठशिला में उनके दश अवतार, द्वादश आदित्य, आठ वसु, एकादश रुद्र तथा अन्य देवों की आकृतियाँ भी बनायी जाती हैं। प्रतिमाओं पर विश्वरूप में विष्णु की प्रायः आठ भुजाएँ ही बनायी गयी थीं।

विश्वरूप विष्णु की प्राचीनतम गुप्तकालीन दो खण्डित मूर्तियाँ मथुरा–शिल्प की मिली हैं जिनमें एक मथुरा संग्रहालय : (सं.सं. 42–43. 2989)[10] तथा दूसरी राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में है।[11] गढ़वा से प्राप्त इसी युग की एक प्रतिमा लखनऊ के राज्य संग्रहालय (सं.सं.बी. 223 सी) में है। गुप्तोत्तरकाल में देश के अनेक भागों में विश्वरूप विष्णु की प्रतिमाएँ आँकी गयीं। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय और दर्शनीय कन्नौज की प्रतिहार कालीन प्रतिमाएँ हैं। इनमें पहली बार विष्णु के तीन मुखों के स्थान पर पाँच बनाये गये थे। मत्स्य एवं कूर्म के मुख और जोड़े गये थे। इनके अतिरिक्त प्रभामण्डल में अन्य अवतार, द्वादश आदित्य, आठ वसु, एकादश रुद्र, शिव, ब्रह्मा, गणेश, इन्द्र, यम, वरुण, अग्नि, नैर्ऋत, वायु आदि दिक्पाल तथा प्रभामण्डल के घेरे में रुद्रमुख–पंक्ति भी बनायी गयी थी। विष्णु के पैर अपने हाथों में लिए पृथिवी, पार्श्व में भू देवी और श्रीदेवी, अर्जुन आदि भी उकेरे गये थे।[12] कालान्तर में ऐसी अनेक मूर्तियाँ गढ़ी गयी थीं। चार मानव–मुख वाली विश्वरूप प्रतिमाओं का विकास सर्वप्रथम गुजरात में मैत्रककाल (छठी शती) में हुआ। इस स्वरूप की चातुर्मानवमुखी विश्वरूप प्रतिमाएं शामलाजी, कथलान आदि स्थानों से मिली हैं। राजस्थान तथा हिमाचल प्रदेश से होती हुयी यह परम्परा नेपाल तक जा पहुँची।

नेपाल की विश्वरूप प्रतिमा

भारतवर्ष के समान नेपाल की मूर्तिकला भी अत्यन्त प्राचीनकाल से ही विकसित होती आयी हैं। नेपाल एक हिन्दू राष्ट्र है। अतएव वहाँ भी वैदिक–ब्राह्मण धर्म देवी–देवताओं की एक से बढ़कर एक सुन्दर और प्रतिभा लक्षणों से संयुक्त मूर्तियाँ गढ़ी गयी हैं। इस आलेख में नेपाल की एक अनूठी और दुर्लभ विष्णु की विश्वरूप प्रतिमा का विवेचन प्रस्तुत है। विश्वरूप विष्णु की यह मनोज्ञ प्रतिमा नेपाल की बागमती घाटी में भक्तपुर से लगभग तीन कि.मी. उत्तर में स्थित चाँगूनारायण मन्दिर के प्रांगण में रक्खी है। इस स्थिति की जानकारी तथा इसका चित्र भी रत्नचन्द्र अग्रवाल ने ललितकला (नई दिल्ली) के 16वें अंक में प्रकाशित किया है तथा भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के भूतपूर्व निदेशक और वास्तुकला एवं मूर्तिकला के विश्वविख्यात विद्वान स्व. कृष्णदेव ने इस मूर्ति का विस्तृत विवेचन अपनी पुस्तक 'इमेजेज़ ऑव नेपाल' (नई दिल्ली, 1984) में प्रस्तुत किया है। 8वीं शती ई. में निर्मित इस प्रतिमा का ऊपरी भाग गोलाकार हैं जिसका बाँया भाग ऊपर से लेकर मध्य तक खण्डित है।[13]

प्रतिमा में सबसे नीचे शेष–शय्या पर लेटे हुए अनन्त–विष्णु का अंकन है। प्रो. कृष्णदेव ने इस प्रतिमा की पहचान संकर्षण से की है क्योंकि उसके सामान्य दाँए हाथ में मुसल है और अतिरिक्त बाएँ हाथ में दोहरे मकरमुख–शीर्ष वाला हल है। संकर्षण भी तो विष्णु के दशावतारों में एक थे। विष्णुधर्मोत्तर पुराण (3/65/1) में विष्णु के अपरिमित बल तथा पृथिवी को धारण करने वाले शेष बताया है– विष्णोरमितवीर्यस्य शेषस्य धरणीभृतः। मुसल इस प्रतिमा में एक विभाजन–रेखा सदृश है। उसके ऊपर विश्वरूप विष्णु की प्रधानमूर्ति के चरणयुगल पृथिवी अपने करतल पर लिए खड़ी है और उसके अगल–बगल चरणों को सहारा देते एक–एक नागपुरुष हैं। इन नागपुरुषों के पृष्ठ भाग में दोनों ओर दो–दो (कुल चार) गजमुख दिखायी देते हैं जो निश्चित रूप से चारों दिशाओं

के प्रतीक दिग्गज हैं। इन दिग्गजों के माध्यम से इस प्रतिमा–फलक में विश्वरूप विष्णु का सर्वव्यापी विराट स्वरूप प्रदर्शित है। विश्वरूप के चार–चार करके तीन स्तरों में द्वादश मुख (दृष्टिगत केवल नौ मुख) और दश भुजाएँ हैं। उनके दाँए हाथों में ऊपर से क्रमशः चक्र, बाण, खड्ग, दुधारी परशु, तथा एक फल है और बाएँ हाथों में तद्वत् गदा, धनुष, गोल ढाल, दण्डयुक्त मयूरपंख तथा शंख है। उनके गर्त में ग्रैवेयक, वाम स्कंध से लटकता उपवीत, उदरबन्ध, कटिबन्ध तथा कदाचित छोटी वनमाला है।

नौ दृश्यमान मुखों में ऊपरी स्तर पर मध्य वाला एक मुख जटाधारी जान पड़ता है, शेष सभी मुखों के शीश पर किरीट मुकुट हैं। बीच वाले तीनों मुख स्मित मुद्रा में हैं। तीन स्तरों वाले इन मुखों के ऊपर बीच में एक आवक्ष मूर्ति भी खण्डित हो चुकी है। उसका केवल दाँया हाथ ही बचा है। मुख तथा आयुधों के अभाव में इस मूर्ति की पहचान संभव नहीं जान पड़ती है। किन्तु अन्य विश्वरूप प्रतिमाओं के साक्ष्य के आलोक में यह मूर्ति ब्रह्मा की होनी चाहिए, क्योंकि उसके दाहिने शिव विराजमान हैं और खण्डित बाँए पार्श्व में विष्णु रहे होंगे। शिव प्रभामण्डल से अलंकृत हैं। वे चतुर्भुज हैं और पालथी–मारकर बैठे हैं। उनके दोनों सामान्य हाथ आगे पैरों पर टिके हैं; अतिरिक्त दाँए हाथ में अक्षमाला है और बाँए में त्रिशूल। शिव के दाँए पार्श्व में एक चक्र बना है जो संभवतः सूर्यमण्डल का प्रतीक है। प्रो. कृष्णदेव का यह विचार सर्वथा सही जान पड़ता है कि बाँए खण्डित अंश के इसी स्थान पर विष्णु के पार्श्व में चन्द्र रहा होगा।

विश्वरूप विष्णु के दाँए पार्श्व में ऊपर शिव की मूर्ति तथा नीचे दिग्गजों की आकृतियों के बीच जो आकृतियाँ हैं अब उन पर विचार करें। ऊपर से विष्णु के कटि–भाग तक आठ पंक्तियों में विष्णु की ओर मुख किए पच्चीस आवक्ष देव आकृतियाँ इस प्रकार हैं– ऊपर पहली पंक्ति में तीन, दूसरी से पाँचवीं पंक्ति तक प्रत्येक में चार–चार और छठी से आठवीं पंक्ति त प्रत्येक में दो–दो। ये सभी आकृतियां वस्तुतः चार फलकों में इस प्रकार विभक्त हैं–प्रथम फलक की तीन पंक्तियों में ग्यारह, दूसरे फलक की दो पंक्तियों में आठ, तीसरे फलक की दो पंक्तियों में चार तथा चौथे फलक की एक पंक्ति में दो आकृतियाँ। ऊपरी दो फलकों की ग्यारह और आठ आकृतियाँ जटाजूटधारी और अंजलिमुद्रा में हैं। इन्हें एकादश रुद्र और अष्टवसु माना जा सकता हैं। तीसरे फलक की चार आकृतियाँ चार लोकपालों की हैं। ऊपर की दो किरीटधारी तथा नीचे की जटाजूटधारी हैं। ऊपर किनारे वाली दण्ड घर आकृति यम की तथा दूसरी पुष्प और वज्रधर इन्द्र की है। नीचे पाशधारी आकृति वरुण की और न कुलक (थैली) लिए कुबेर की है। चारों लोकपालों की यह पहचान प्रो. कृष्णदेव ने की है। नीचे वाली अन्य दो आकृतियाँ यद्यपि अश्वमुखी न होकर सामान्य मानवमुखी हैं तथापि स्थान–विशेष के कारण उन्हें अश्विनी कुमार स्वीकार किया जा सकता है। विष्णु की कटि के नीचे दाँए पार्श्व में नागपुरुष के ऊपर उड़ती हुयी भूदेवी तथा पीछे नमस्कार मुद्रा में अंजलिबद्ध खड़े गाण्डीवधारी अर्जुन हैं। अर्जुन का अंकन कन्नौज की विश्वरूप प्रतिमाओं में भी पाया गया है।

अब विष्णु के वाम भाग की आकृतियों पर दृष्टिपात करें। यह भाग ऊपर से अंशतः खण्डित हैं। बधे भाग में ऊपर दो स्तरों में पाँच ऋषियों की आकृतियाँ दिखायी देती हैं– ऊपर दो और नीचे

तीन। इनमें नीचे वाली तीनों और ऊपर वाली एक स्पष्टरूप से श्मश्रुधारी हैं। उनके न विष्णु के सन्निकट दो उड़ती हुयी आकृतियाँ हैं– एक श्रीदेवी की तथा दूसरी सपक्ष गरुड़ की। इस प्रतिमा–फलक के घेरे में रुद्रमुख–पंक्ति नहीं हैं, शायद इसलिए क्योंकि उनका अंकन फलक में उपस्थित है। रुद्रमुख–पंक्ति के स्थान पर इस फलक के घेरे में नागकुण्डबियाँ बनायी गयी हैं। संभवतः वे शेष के विराट और विश्वव्यापी रूप की परिचायिका हैं।

इस विश्वरूप विष्णु की प्रतिमा में कई विशेषताओं को दृश्यमान किया गया है। उनमें निम्नलिखित मुख्य हैं–

शेषशायी विष्णु का अंकन

अद्यावधि ज्ञात अनेक विश्वरूप–विष्णु की प्रतिमाओं में चाँगूनारायण की यह प्रतिमा ऐसी अकेली प्रतिमा है जिसमें अनन्तशायी विष्णु का अंकन समाविष्ट हो। स्पष्टतौर पर यह पाताल लोक का प्रदर्शन है। वैसे विष्णु–चरणों को अपने करतल पर धारण करने वाले और उनके श्रीचरणों के अगल–बगल नाग–नागिनियों के अंकन से भी पाताल लोक का अंकन–निदर्शन भी स्पष्ट हो जाता है। ऐसा अन्य कई फलकों में किया भी गया है। परन्तु शेषशायी विष्णु का संकर्षण रूप समस्त विश्वरूप प्रतिमाओं में यह अकेला है। वस्तुतः इस अंकन के माध्यम से शेष, संकर्षण और विष्णु तीनों स्वरूपों का प्रत्यक्षीकरण संभव हुआ है।

चार दिग्गजों का अंकन

यों तो ये चार दिग्गज पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर नामक चार दिशाओं के द्योतक हैं, परन्तु इनसे विश्व का चातुर्दिक मण्डल–प्रदर्शन भी प्रतिभासित होता है जो विष्णु के विश्वरूप की विराटता का भी परिचायक है। ये दिग्गज भी, जहाँ तक मेरी जानकारी है, अन्य किसी विश्वरूप–विष्णु की प्रतिमा में नहीं आँके गये हैं।

सभी मानव–मुखों का अंकन

गुप्तकाल में ही विश्वरूप–विष्णु का एक नया स्वरूप गुजरात में विकसित हुआ। लगभग छठी शती ई. में प्रायः वीरासन में निर्मित ऐसा अष्टभुज–चतुर्मुख (सभी मानव मुख) प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। शामलाजी,[14] कथलाल[15] आदि विश्वरूप प्रतिमाओं में चारों मुख मानवी थे, पशु का एक भी नहीं। समस्त मानव मुख वाले विश्वरूप–विष्णु की जो उद्भावना गुजरात में प्रकट हुयी, वही निकटवर्ती राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों में पनप गयी थी और उसके विकास की

अगली कड़ी हमें नेपाल की प्रस्तुत मूर्ति में दिखलायी पड़ती है जिसमें चार के स्थान पर बारह मुख हैं और सभी मानव–मुख हैं। संभवतः द्वादश–मानवमुख वाली विश्वरूप–विष्णु की यह प्रतिमा अनूठी और अद्वितीय है।

प्रस्तुत प्रतिमा के द्वादश मानव–मुख

नेपाल की इस विश्वरूप–विष्णु प्रतिमा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता इसमें अंकित विष्णु के द्वादश मुख हैं। मुखों की यह संख्या इस प्रतिमा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और विवेचनीय पक्ष है। प्रो. कृष्णदेव ने ब्रह्मा समेत इस मूर्त्ति के दस मुख बताये हैं। ब्रह्मा को छोड़कर विष्णु के नौ मुखों की ही गणना उन्होंने की है।[16] स्पष्ट है कि जितने मुख इस प्रतिमा में दृश्यमान हैं, उनकी संख्या ही उन्होंने स्वीकार की है। किन्तु इन नौ मुखों की संख्या में कोई संगति उन्होंने नहीं बिठायी है। मेरे विचार से इस मूत्ति में नौ के स्थान पर बारह मुखों के होने का संकेत ग्रहण करना चाहिए। जिस प्रकार चतुर्मुख वैकुण्ठ, चतुर्मुख ब्रह्मा और चतुर्मुख शिव के मूर्ति– फलकों पर केवल तीन मुखों का दर्शन ही सुलभ होता है, पीछे का चौथा मुख दर्शनीय नहीं होता है क्योंकि वह संभव नहीं है। जिस प्रकार अशोक के सिंह शीर्ष में चार के स्थान पर केवल तीन ही दिखायी पड़ते हैं, उसी प्रकार इस मूर्ति के तीनों स्तरों पर चार–चार मुख होने पर भी दृष्टिगत केवल नौ मुख ही हैं। तीनों स्तरों पर पीछे वाला मुख दिखायी नहीं देता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण (3.85. 43–45; 3. 44. 11–12)[17] तथा जयाख्यसंहिता (6.74) में भी विष्णु के चार मुखों का ही वर्णन मिलता है। अस्तु, प्रस्तुत चाँगूनारायण की प्रतिमा के तीनों स्तरों पर चार–चार करके द्वादश या बारह मुखों का होना ही तर्कसंगत है।

अब प्रश्न है इन द्वादश मुखों की संगति बैठाने का। इनकी संगति दो प्रकार से बैठायी जा सकती है– एक यह कि पाताल, पृथिवी और आकाश इन तीनों लोकों में व्याप्त चतुर्मुख विष्णु के कुल मिलाकर द्वादश मुख हो जाते हैं। इस प्रतिमा–फलक में इन तीनों लोकों का अंकन किया भी गया है। अस्तु शिल्पी ने पाताल, पृथिवी और आकाश में विस्तृत त्रिलोक की परम सत्ता के विराट विश्वरूप को प्रत्यक्ष प्रदर्शित करने के लिए ही तीनों स्तरों पर चार–चार मुख बनाकर उस सत्ता के चतुर्दिशाओं में व्याप्त होने का भाव प्रकट किया है। दूसरे, इन द्वादश मुखों के माध्यम से द्वादशादित्य का अंकन भी अभिप्रेत माना जा सकता है। हम जानते हैं कि द्वादश आदित्यों में विष्णु की भी गणना है। चूँकि समस्त संसार का चतुर्दिग्मण्डल आदित्य के प्रकाश से ही प्रतिभासित और प्राणवन्त है[18], अस्तु संभव है मूर्तिकार ने जीवन और जगत के सकलाधार द्वादशादित्य को विश्वरूप–विष्णु के माध्यम से यहाँ प्रकट करने का सार्थक प्रयास किया हो।

शेषशायी विष्णु, नागदेवता, पृथिवी, अंतरिक्ष में उड़ती हुयी सपक्ष आकृतियाँ, एकादशरुद्र, आठ वसु, चारो लोकपाल, अश्विनीकुमार, भूदेवी, श्रीदेवी, गरुड़, ऋषिगण, ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवगण, गाण्डीवधारी अर्जुन के अंकन से इस प्रतिमा–फलक पर श्रीमद्भगवदगीता (11.6) में वर्णित विश्वरूप का विराट प्रदर्शन और अर्जुन का चमत्कृत होना स्पष्ट दिखायी देता है। 'पश्योदित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा 'श्रीमद्भगवद् गीता का यह वर्णन तब सचमुच सम्पूर्ण रूप से इस प्रतिमा–फलक पर साकार दिखेगा जब इन मुखों को द्वादशादित्य के रूप में देखा जाए।

इस विचार की संपुष्टि विष्णुधर्मोत्तर पुराण, तृतीय खण्ड के 'विश्वरूप प्रतिमा निर्माणम्' नामक 83 वें अध्याय (श्लोक 2–3) से भी हो जाती है जिसमें विश्वरूप की मूर्त्ति में विष्णु, महेश और ब्रह्मा के चार–चार मुख एक के ऊपर एक बनाने का निर्देश है। महेश के पाँचवें ईशानमुख न बनाने का भी स्पष्ट निर्देश है। श्लोक 12 में मूर्त्ति को त्रैलोक्य स्वरूप देने का भी विधान है–

आदौ देवस्य कर्तव्याश्चत्वारो वैष्णवा मुखाः। तेषां उपरि कर्तव्यास्तथा महेश्वरः पुनः ।।2।।
ईशानं वक्त्रहीनास्ते यथा प्रोक्ता मया पुरा। तेषां उपरि कर्तव्या मुखा ब्रह्मा यथेस्थिताः।।3।।
त्रैलोक्यं सकलं राजन्ययथाशास्त्रानुसारतः। दर्शनीयानिः वर्णानि सर्वाण्येव महात्मनः।।12।।[19]

सन्दर्भ

1. बलराम श्रीवास्तव, रूपमण्डन, वाराणसी, 1989, भूमिका, पृ. 4.
2. विष्णुपुराण (3.1.41), गीता प्रेस गोरखपुर, 12वां संस्करण, वि.सं. 2045, पृ. 200
   चाक्षुषे चान्तरे दवो वैकुण्ठः पुरुषोत्तमः।
   विकुण्ठयाम सौ यज्ञे वैकुण्ठैर्देवतैः सह।।
3. महाभारत, विष्णुसहस्रनाम, 51 (आर.सी. अग्रवाल, नृसिंह–वारह–विष्णु इमेजेज़ ऐण्ड सम एलाइड प्राबलेम्स', ललितकला, खण्ड 16, पृ. 12, दि.14.
4. चतुर्मुखी वैकुण्ठ–विष्णु की कतिपय मूर्तियाँ अवन्तिस्वामी मन्दिर, अवन्तिपुर (कश्मीर), संप्रति श्रीनगर के गदाधर मन्दिर के बरामदे में तथा हरिराय मन्दिर, चम्बा, हिमाचल प्रदेश में मिली हैं।
5. द्वादशादित्य–धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, इन्द्र, विवस्वान, पूषा, पर्जन्य, अंश, भग, त्वष्टा और विष्णु,
6. अष्ट वसु – अनल, अनिल, आप, धर, ध्रुव, प्रत्यूष, प्रभाव तथा सोम.
7. एकादश रुद्र – तत्पुरुष, अघोर, ईशान, वामदेव, मृत्युंजय, किरणाक्ष, श्रीकण्ठ, अहिर्बुध्न्य, विरूपाक्ष, बहुँरूप और त्रयम्बक (रूपमण्डन).
8. अश्विनी कुमार– नासत्य और दस्र.
9. श्रीमद्भगवद्गीता –
   पश्य में पार्थ रूपाणि शतशोडथ सहस्रशः। 11.5
   पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा। 11.6
   दिवि सूर्यसहस्रस्ये भवेत् युगपदुत्थिता। 11.12
   अनेकबाहूदर वक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोडनन्तरूपम्।
   नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम्।।1
10. दृष्टव्य आर.सी. अग्रवाल, उपर्युक्त, पृ.14, फलक 1, चित्र सं. 2.
11. दृष्टव्य ए.एल. श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय देव–मूर्तियाँ, संस्कृति विभाग, उ.प्र., लखनऊ, 1998, चित्र सं.1

12. दृष्टव्य गोपालकृष्ण अग्निहोत्री, कन्नौजः पुरातत्त्व और कला, कन्नौज, 1978, चित्र सं. 98, 100, 101.

13. आर.सी. अग्रवाल, उपर्युक्त, पृ. 15; कृष्णदेव, इमेजेज़ ऑव नेपाल, आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, नई दिल्ली, 1984, पृ. 25–27, चित्र फलक 27–28

14. यू.पी. शाह, स्कल्पचर्स, फ्राम शामलाजी ऐण्ड रोडा, बुलेटिन ऑव बड़ौदा म्यूज़ियम ऐण्ड पिक्चर गैलरी, बड़ौदा, 1960, चित्र सं. 43 एवं 50.

15. एम.आर. मजूमदार (सं.), क्रोनोलॉजी ऑव गुजरात, वाल्यूम 1, बड़ौदा, 1960, पृ. 209–210, फलक 45 (दृष्टव्य ललितकला, 16, पृ. 14, दि. 28); हरिप्रिया रंगराजन, 'रांग आइडेण्टीफिकेशन ऑव विश्वरूप–विष्णु फ्राम गुजरात, कला, वाल्यूम 6 (1999–2000), पृ. 67.

16. कृष्णदेव, उपर्युक्त, पृ. 25, चित्र फलक 27–28.

17. अथर्ववेदीय सूर्योपनिषद् –

आदित्याद् वायुर्जायते। आदित्याद् भूमिर्जायते, आदित्यादापोजायन्ते। आदित्याद् ज्योतिर्जायते।

आदित्याद् व्योमदिशो जायन्ते। आदित्याद् देवा जायन्ते। आदित्याद् वेदा जायन्ते।

आदित्यों वा एष एतन्मण्डलं तपति (दृष्टव्य सूर्यांक, गीताप्रेस गोरखपुर की पत्रिका कल्याण का विशेषांक, सं. 53)

18. पूर्वोक्त.

19. विष्णुधर्मोत्तर पुराण, तृतीय खण्ड, सं. प्रियबाला शाह, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1994.

□□

अशोक की धम्म नीति : एक सिंहावलोकन

डॉ. अरुण केसरवानी*
डॉ. बबीता*

विश्व इतिहास में अशोक का यश उसे राज्य विस्तार व कुशल शासन–व्यवस्था के कारण ही नहीं, अपितु उच्च धार्मिक आदर्श, नैतिक नियम व धम्म विजय नीति पर आधारित है। विश्व–इतिहास साक्षी रहा है कि जब भी किसी देश या समाज में कोई परिवर्तन होता है तो उसके परिणाम दूरगामी होते हैं। ऐसा ही कुछ मौर्यवंशी सम्राट अशोक के जीवन काल में घटित हुआ। क्या अशोक के धार्मिक जीवन व विचार–परिवर्तन का कारण कलिंग–युद्ध था? क्या धम्म की स्थापना से पूर्व वह बौद्ध–धर्म का अनुयायी था? धम्म क्या था? यह इतिहासकारों के लिए सदैव से ही विवादास्पद प्रश्न रहा है। वास्तव में अशोक का धम्म सभी धर्मों का सार था। उसने सभी धर्मों के मुख्य–सिद्धान्तों को लेकर ही 'धम्म' का निर्माण किया, जिनका वर्णन द्वितीय स्तंभलेख व सप्तम् शिलालेख में किया गया है।

प्रारम्भिक जीवन

अशोक (273 ई. पू.–232 ई.पू.) मौर्य वंश का महान् सम्राट था। उनका जन्म 294 ई.पू. में हुआ। वह बिन्दुसार का पुत्र व चन्द्रगुप्त मौर्य का पौत्र था। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् अशोक को राजसत्ता के लिए अपने 99 भाईयों का वध करना पड़ा। तत्पश्चात् 269 ई. पू. में उसका राज्याभिषेक हुआ। उसने दिग्विजय की ओर ध्यान दिया व विदेशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए। 13वें शिलालेख[1] (चित्र–1) से विदित होता है कि उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण विजय कलिंग विजय थी जो उसने अभिषेक के 8 वर्ष पश्चात् अर्थात् 261 ई.पू. में प्राप्त की। गिरनार से प्राप्त अभिलेख से पता चलता है कि कलिंग के इस युद्ध में 1½ लाख मनुष्यों का देश निकाला हुआ व एक लाख मनुष्य मारे गए तथा भयंकर रक्तपात हुआ। अशोक ने जब इस युद्ध की हानि का वास्तविक आंकलन किया तो वह बड़े मार्मिक शब्दों में विनाश, वध व प्रियजनों से बिछुड़ने का दुःख प्रकट करता हुआ प्रतीत होता है। इस युद्ध का अशोक के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा।
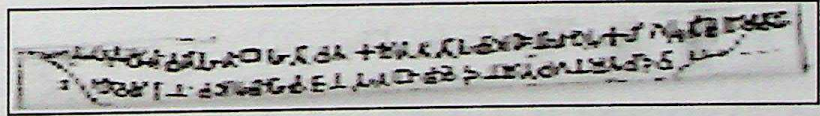
चित्र–1 : गिरनार का तेरहवां शिलालेख

सतसहस्त्रमतं दत, हतं, बहुतावतकं मता, तता पछा
अधुना लंघेसु कलिंगस्तु तिबो धम–––वधो व मरणं व अपवहो व
जनस तं बाढं वेदनामत च गरुमत च देवानं।।

*प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)
*असिस्टेंट प्रोफेसर, भारत एशियाई ज्ञान अध्ययन केन्द्र, भगत फूल सिंह महिला विश्वविद्यालय, खानपुर कलां, सोनीपत (हरियाणा)

उसके लेखों[2] (चित्र–2) में कहा गया है कि कलिंग विजय के बाद देवताओं के प्रिय द्वारा धर्मानुशासन अच्छी तरह हुआ। शास्त्रों की विजय सबसे बड़ी विजय नहीं है उसने अपना व्यक्तिगत धर्म भी बदल लिया व बौद्ध अनुयायी हो गया।
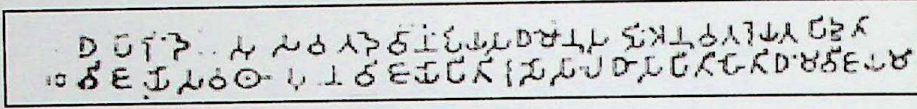
चित्र–2 : गिरनार का तेरहवां शिलालेख

धपारिदेसु–––सवत देवानंपिय धमानुसस्टिं अनुवतरे। वत पि च–––विजयो

सवथ, पुन विजयो पितिरसो लधा सा पिति होति धम्मविजयम्हि।

अशोक के भाब्रू शिलालेख[3] (चित्र–3) में कहा गया है कि अपने धर्म परिवर्तन के एक–आध वर्ष के बाद वह बौद्ध–संघ में शामिल हो गया। लघु स्तंम्भ लेख में उसने कहा है कि वह 'शाक्य' और बुद्वशाक्य' अर्थात् बौद्ध है। उसने बौद्ध–त्रिरत्न में विश्वास प्रकट किया है।
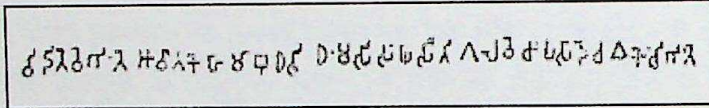
चित्र–3 : भाब्रू (राजस्थान) शिलाभिलेख

विदिते वे भंते आवतके हमा बुधसि धंमसि संघसी ति गालवे चं प्रसादे ए कोचि भंते।।

धर्म परिवर्तन का उसके व्यक्तिगत जीवन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उसने राजघराने में प्राचीन काल से चली आ रही अनेक परिपाटियों और संस्थाओं को जो उसे नए धर्म के विपरीत पड़ती थी, समाप्त करा दिया। अब उसके सम्मुख एक ही लक्ष्य मुख्य था– ऐसे साम्राज्य की स्थापना करना जिसका आधार विश्व–शांति हो, धर्म हो, न कि शस्त्र।

सारनाथ, कौशाम्बी व सांची[4] (चित्र–4) के लघु स्तंम्भ लेखों में वह बौद्ध–धर्म के रक्षक के रूप में प्रकट होता है व संघ में भे डालने वालों के लिए दण्ड का विधान करता है।
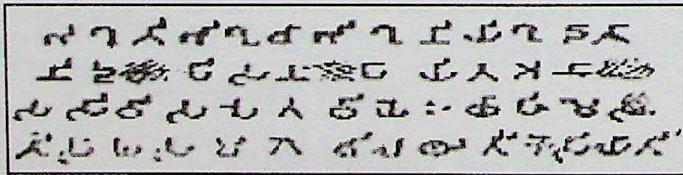
चित्र–4 : सांची का लघु स्तंम्भ अभिलेख

ये संघं भाखति भिखु वा भिक्खुनि

वा ओदाता नि दुसानि सनंधापयितु अनावा ससि वासापेतविये। इछा हि में किंति संधे समगे चिलाथितीके सिया ति।।

इस प्रकार अशोक के सतत् प्रयासों से बौद्ध धर्म विश्वव्यापी धर्म बन गया।[5] अशोक का धम्म क्या था? यदि हम इस पर विचार करें तो उसके व्यक्तिगत धर्म और उस धर्म में अन्तर करना होगा जिसका उसने अपनी प्रजा में प्रचार का आदेश दिया।

धम्म का अभिप्राय

अशोक ने अभिलेखों में 'धम्म' की चर्चा एक आदर्श जीवन दर्शन के रूप में की है। 'धम्म' संस्कृत के धर्म का ही प्राकृत रूपान्तर है। अभिलेखीय 'धम्म' से अभिप्राय निष्ठा या सदाचरण से था। अशोक ने अपनी प्रजा के भौतिक उत्थान के लिए जिन आचार–नियमों की संहिता के पालन की बात कही, उसे ही 'धम्म' कहा गया है। अशोक के धम्म की परिभाषा 'राहुलोवादसुत' से ली गई है जिसे 'गेह विजय' अर्थात् गृहस्थों के लिए 'अनुशासन ग्रन्थ' भी कहा जाता है।[6]

चित्र–5 : दिल्ली–टोपरा स्तंम्भ अभिलेख, फिरोजशाह कोटला, दिल्ली

अभिलेखों में धम्म शब्द का बार–बार प्रयोग हुआ है, अशोक के स्तंम्भ अभिलेखों पर उत्कीर्ण राजाज्ञाओं की संख्या सात है इसलिए इन्हें सप्त स्तंम्भ अभिलेख कहा जाता है। ये स्तंम्भ अभिलेख दिल्ली–टोपरा (चित्र–5), दिल्ली–मेरठ (चित्र–6), लौरिया–अरराज, लौरिया–नन्दनगढ़, रामपुरवा तथा प्रयाग आदि छः प्रमुख स्थानों से प्राप्त हुए हैं जो छः भिन्न–भिन्न पाषाण स्तंम्भों पर एक समान उत्कीर्ण हैं। इन स्तंम्भ अभिलेखों में केवल दिल्ली–टोपरा स्तंम्भ अभिलेख पर सातों लेख उत्कीर्ण है। अन्य स्थानों से प्राप्त स्तंम्भों पर केवल 6 राजाज्ञाएं या प्रज्ञापन उत्कीर्ण मिलते हैं।
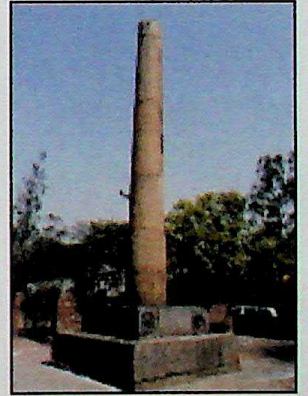
चित्र–6 : दिल्ली–मेरठ स्तंम्भ अभिलेख

दूसरे व सातवें स्तंम्भलेख (चित्र–7) में उन नियमों का वर्णन है जो धम्म का निर्माण करते हैं। इन स्तंम्भ अभिलेखों के प्रत्येक द्वितीय स्तंम्भलेख[7] में अशोक स्वयं पूछता है–

चित्र–7 : दिल्ली–टोपरा का द्वितीय स्तंम्भाभिलेख

कियं चु धम्में (धम्म क्या है)

इसके उत्तर में अशोक अपने द्वितीय व सप्तम् स्तंम्भलेख[8] (चित्र–8) में स्वयं कहता है :–
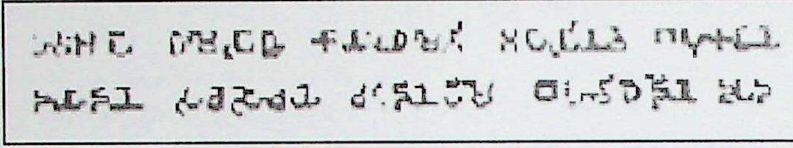
अपासिनवे बहुकयाने, दया, दाने, सचे,

सोचये, माधवे, साधवे च इयं धम्मं।

अर्थात् पापहीनता, बहुकल्याण, दया, दान, सच, पवित्रता, मृदुता व साधुता ही धम्म है। उपरोक्त अभिलेख में केवल सोचये तक उल्लिखित है जबकि दिल्ली–टोपरा के सप्तम् स्तंम्भ अभिलेख में माधवे–साधवे का भी वर्णन मिलता है।

धम्म के विविध पक्ष :

अशोक के धम्म के दो मुख्य पक्ष हैं, जो नैतिक आचार–व्यवहार से सम्बन्धित हैं, परन्तु उसका धम्म केवल नैतिक आचार संहिता ही नहीं था, अपितु यह भी प्रेरणा देता है कि मनुष्य को विभिन्न धर्मों के प्रति व राजा को अपनी प्रजा के प्रति कैसा दृष्टिकोण रखना चाहिए।[9] चतुर्थ[10] शिलालेख (चित्र–9) में धम्म का नैतिक सकारात्मक पक्ष दृष्टव्य है :–
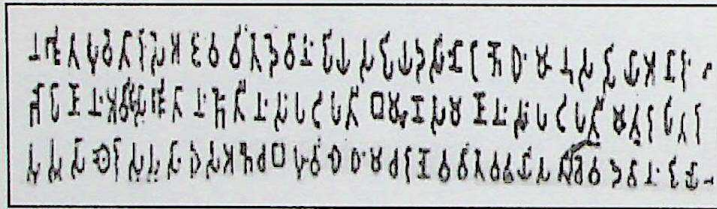
चित्र–9 : गिरनार का चतुर्थ शिलाभिलेख

अनारंम्भों प्राणानां अविहिंसा भूतान ञातीनं संपटिपति ब्राम्हव समणानं संपटिपति

मातरि–पितरि सुस्त्रुसा थेरसुस्त्रुसा (.) एस अञे बहुविधे धम चरणे वढिते वढयिसति।.।

अर्थात् प्राणियों की हत्या न करना, प्राणियों को क्षति न पहुंचाना, माता–पिता की सेवा करना, थेर–सुस्रुसा (वृद्धों की सेवा करना), मित्रों, परिचितों, ब्राह्मणों तथा श्रमणों को दान देना) भी धम्म ही हैं। इसके अतिरिक्त नवम् शिलालेख (चित्र–10) में भी धम्म का नैतिक सकारात्मक पक्ष दिखाई देता है।

चित्र–10 : गिरनार का एवम् शिलाभिलेख

ततेव दासभतकम्हि सम्यप्रतिपती गुरुनं अपचिति साधु पाणेसु सयमो साधु बाम्हण समणानं साधुं दानं एत च अ ञ च एतरिसं धमं मंगलं नाम (.)[11] त वतव्यं पिता व

इससे विदित होता है कि अशोक ने न केवल धम्म के विशिष्ट गुण ही बतलाए, अपितु व्यवहारिक जीवन में उनका पालन करना भी उचित बताया।[12] अशोक के धम्म का एक अन्य सकारात्मक पक्ष था– धार्मिक सहिष्णुता की भावना, जिसकी विशेष रूप से चर्चा द्वादश शिलालेख[13] (चित्र–11) में हुई है।

चित्र–11 : गिरनार का 12वां शिलाभिलेख

देवानं पिय पियदसि राजा सवपासंडानि च पवजितानि च घरस्तानि पुजयती दानेन च विविधाय पूजाय पुजयति (.) न तुं तथा दानं व पुजा व देवानं पियो मञते तथा किति साखढिय अस सवमूलं (.) सारवढीति बहुविधा (.)

इस शिलालेख में वह कामना करता है कि सब सम्प्रदाय सर्वत्र निवास करें। वह दान व पूजा को उतना नहीं मानता, जितना कि जब सम्प्रदायों की सार वृद्धि को। इसका मूल उसने वाकसंयम् को बतलाया अर्थात् जो व्यक्ति दूसरों के सम्प्रदाय की आलोचना करता है वह अपने ही सम्प्रदाय को हानि पहुंचाता है। उसने इच्छा व्यक्त की, कि सभी सम्प्रदाय कल्याणकारी सिद्धान्त वाले हों। उस काल में सहिष्णुता की इतनी गहना भावना विश्व में कहीं नहीं मिलती।

चित्र–12 : अशोक के अभिलेखों के प्राप्ति स्थल
(Edicts of Ashoka-wikipedia, the free encyclopedia)

शिलाओं व स्तंभों पर उत्कीर्ण लेखों (चित्र–12) के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि अशोक का धम्म व्यवहारिक, फलमूलक एवं अत्यधिक मानवीय था।

इसके प्रचार से अशोक अपने साम्राज्य के लोगों में तथा बाह्य–जगत में अपने जीवन के आदर्श को चरितार्थ करना चाहता था।[14]

धम्म का निषेधात्मक पक्ष :

अपने तृतीय स्तंम्भलेख (चित्र–13) में अशोक 'आसिनव' को पाप कहता है। मनुष्य पाप–कर्मों के कारण ही सद्गुणों से विचलित होता है। साथ ही ये मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति में भी बाधक हैं। इन दुर्गुणों से आसिनव हो जाता है–

चित्र–13 : दिल्ली–टोपरा का तृतीय स्तंम्भ अभिलेख

आसिनवगामिनी नाम अथा चंडिये निठ्लिये कोधे माने इस्स।[15]

अर्थात् चंडिये (प्रचण्डता) निष्ठुरता, क्रोध, घमण्ड व ईर्ष्या आदि दुर्गुणों से पाप–कर्म हो जाते हैं। अतः धम्म का पूर्ण परिपालन तभी संभव हो सकता है जब मनुष्य इन गुणों के पालन के साथ–साथ विकारों से भी स्वयं को मुक्त रखे। इसके लिए आवश्यक हैं कि मनुष्य आत्म–निरीक्षण करता रहे ताकि उसे अधःपतन की ओर अग्रसर करने वाली बुराईयों का ज्ञान हो सके। कलिंग से प्राप्त प्रथम पृथक शिलाभिलेख (चित्र–14) में अशोक 'सम्पूर्ण प्रजा को अपनी संतान' (सव–मुना में पजा) कहता है। धर्म के मार्ग का अनुसरण करने वाला व्यक्ति स्वर्ग की प्राप्ति करता है तथा उसे इहलोक व परलोक में पुण्य की प्राप्ति होती है।[16]

चित्र–14 : कलिंग का पृथक शिलाभिलेख, जौगढ़
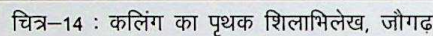
अथ पजाये इच्छामि किंति में सवेन हित–सुखेन भुजेयू ति

हिदलोगिक–पाललोकिकेन (हे) मेव इच्छ सव–मुनिसेसु

धम्म प्रचार हेतु प्रशासकीय प्रावधान :–

अशोक की धम्म विजय नीति का साम्राज्य पर अधिक प्रभाव पड़ा। उसके शासन काल में मौर्य साम्राज्य का प्रमुख उद्देश्य धम्म के आदर्श को व्यवहारिक रूप देना ही हो गया। उसके प्रथम शिलालेख[17] (चित्र–15) में पशुबलि व समाजों के निषेध का उल्लेख किया गया है।

चित्र–15 : गिरनार का प्रथम शिलाभिलेख

'इध न किंचि जीवं आरभित्पा प्रजूहितव्यं (.) न च समाजो कतव्यो (.)।'

यहाँ कोई जीव मारकर बलि न दी जाए और न कोई सभा की जाए।
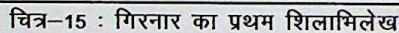
तृतीय शिलालेख[18] (चित्र–16) से विदित होता है कि उसने धम्म प्रचार के लिए अपने साम्राज्य के सम्पूर्ण राजपुरुषतन्त्र को लगा दिया।

चित्र–16 : गिरनार का तृतीय शिलाभिलेख
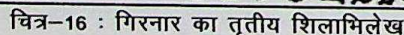
देवानंपियो पियदसि राजा एवं आह (.) द्वादसवसाभिसितेन मया इदं

आज्ञपितं (.) सर्वत्र विजिते मम युता च राजुके च प्रादेसिके च पंचसु

वासेसु अनुसं यानं नियातु एतायेव अथाय इमाय धमानुसस्टिय।

इसके अतिरिक्त उसने राजुक, प्रादेशिक व ब्रजभूमिक, आदि पदाधिकारियों के लिए अपने–अपने क्षेत्रों में निगरानी करना आवश्यक कर दिया। अशोक ने अपनी धम्म नीति को व्यवहारिक रूप देने के लिए धम्म महामात्र तथा कुछ अन्य पदाधिकारी नियुक्त किए। उसने अपने प्रतिवेदकों को आदेश दिए कि वे उन्हें महामात्रों से सम्बन्धित सूचनाएं तत्काल दें।[19] गिरनार के पंचम शिलाभिलेख[20]

(चित्र–17) से पता चलता है कि अशोक ने बन्दियों की दशा सुधारने के लिए विशेष प्रयत्न किए। बन्दियों के कल्याण का निरीक्षण करने वाले अधिकारियों के विषय में यह कथन अशोक की नीति के दयालु पक्ष को उजागर करता है–
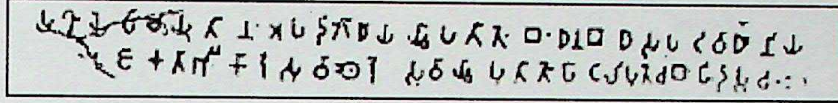
चित्र–17 : गिरनार का पंचम शिलाभिलेख

अपरिगोधाय व्यापता ते (.) बंधनबधस पटिविधानाय---- प्रजा कताभीकारेसु वा
थैरसु वा व्याप्ता ते (.) पाटलिपुते च बाहिरसु च।

अशोक ने दीर्घ काल से चली आई विहार यात्राएं बन्द करके धर्मयात्राएं प्रारम्भ की, जिनमें ब्राह्मणों व श्रमणों को दान देना तथा वृद्धों का दर्शन किया जाता था व उनके पोषण की व्यवस्था की जाती थी। क्योंकि अशोक आम जनता के सम्पर्क में आना चाहता था इसलिए उसने समस्त साम्राज्य में स्तंभों व शिलाओं पर धम्मलिपियां खुदवायी, जिन्हें उसके राजपुरुष जनता को पढ़कर सुनाते थे।[21]

गिरनार के चतुर्थ शिलालेख (चित्र–18) से पता चलता है कि अशोक ने धम्म को जनता में लोकप्रिय बनाने के लिए उन स्वर्गीय सुखों का प्रदर्शन करवाया जो मनुष्य को देवत्त्व प्राप्त होने पर स्वर्गलोक में मिलते हैं जिनमें विमान, हस्ति व अग्निस्कन्ध आदि दिव्य रूपों का प्रदर्शन किया गया। इसके पीछे यह भावना निहित थी कि यदि मनुष्य धर्माचरण करेगा तो वह देवत्त्व को प्राप्त कर स्वर्गलोक में निवास करेगा।[22] यथाः
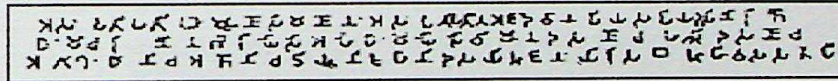
चित्र–18 : गिरनार का चतुर्थ शिलाभिलेख

अज देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो धंमचरणेन भेरीघोसो अहो धमघोसो
विमानदसणा च हास्तिदसणा च अंगिरबधानि अञानि च दिव्यानि रूपानिं दसयित्वा जनं(.)।

सातवें स्तंम्भलेख (चित्र–19) में वह कहता है, 'मार्गों में मेरे द्वारा वटवृक्ष लगवाएं गए ताकि मनुष्य व पशुओं को छाया मिल सके। आधे–आधे कोस की दूरी पर कुँए खुदवाएं व विश्राम–गृह बनवाए, मैंने यह इस अभिप्राय से किया कि लोग धम्म का आचरण करें।[23]
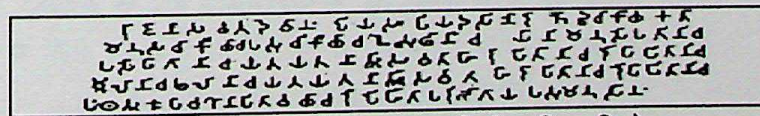
चित्र–19 : गिरनार का द्वितीय शिलाभिलेख

राजानो सर्वत्र देवानांप्रियस प्रियदसिनो राजो द्वे चिकीछा कता– मनुसचिकिछा च पसुचिकिछा

च (.) ओसुढानि च यानि मनुसोपगानि च पसोपगानि च यत यत नास्ति सर्वत्रा हारापितानि च रोपापितानि च (.) मूलानि च फलानि च यत यत्र नास्ति सर्वत्र हारापितानि च रोपापितानि च (.) पंथेसु कूपा च खानापिता व्रछा च रोपापिता परिभोगाय पसुमनुसानं (.)।

धम्म विजय का क्षेत्र :

अशोक की धम्म विजय का क्षेत्र अत्यंत व्यापक था। वह अपनी धम्म विजय के आदर्श को केवल अपने युग के लिए ही नहीं, अपितु भविष्य के लिए भी स्थापित करना चाहता था। षष्ठम् शिलालेख (चित्र–20) से पता चलता है कि उसकी इच्छा थी कि, 'उसके पुत्र, प्रपौत्र और वंशज उसकी नीति का अनुसरण करें तथा शस्त्र विजय के स्थान पर धम्म विजय के लिए प्रयत्नशील रहे।[24]
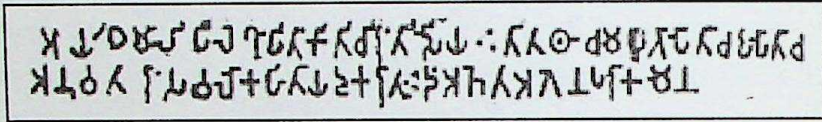
चित्र–20 : गिरनार का षष्ठम शिलाभिलेख

'अयं धमंलिपि लिखापिता किंति चिरं तिष्टेयं इति तथा
च मे पुत्रा पोता प्रपोता च अनुवतरं, सर्वलोकहितायं'' (.)
दुकरं तु इद अञत्र अगेन पराकमेन।

अतः अशोक ने प्रस्तर शिलाओं और स्तंम्भों पर अभिलेख उत्कीर्ण करवाए ताकि उसका धम्म संदेश सूर्य व चन्द्रमा की भाँति स्थायी रहे। वर्तमान में ब्रिटिश संग्रहालय, लंदन में भी अशोक के षष्ठम् प्रस्तर–स्तंम्भ (चित्र–21) पर उत्कीर्ण अभिलेख का यह पुरावशेष संरक्षित हैं।

चित्र–21 : गिरनार का षष्ठम् प्रस्तर–स्तंम्भ लेख

धम्म विजय व प्रचार के सन्दर्भ में अशोक के अभिलेखों में कुछ ऐसे विवरण भी मिलते हैं जिनसे उसके विदेशों के साथ पारस्परिक सम्बन्धों का आभास होता है। ये सम्बन्ध कूटनीति व भौगोलिक सान्निध्य के हितों पर आधारित थे। अशोक ने दक्षिणी व पश्चिमी क्षेत्रों में (चित्र–22) 'धम्म–मिशनों' के माध्यम से ही सम्पर्क स्थापित किया था।[25]

7वें स्तंम्भ अभिलेख[26] से पता चलता है कि अशोक ने ताम्रपणी (श्रीलंका) में अपने पुत्र महेंद्र व पुत्री संघमित्रा को धर्म–प्रचार के लिए भेजा था, जहां तक पश्चिमी शक्तियों का सम्बन्ध है, शिलाभिलेख पंचम् एवं त्रयोदश में यवनों, काम्बोजों एवं गांधारों का उल्लेख है। दीपवंश एवं महावंश[27] के अनुसार

अशोक के राज्य–काल में पाटलिपुत्र में मोग्गलिपुत्र तिस्स की अध्यक्षता में बौद्ध धर्म की तीसरी सभा हुई। इस सभा की समाप्ति के पश्चात् भिन्न भिन्न देशों में बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ भिक्षु भेजे गए।
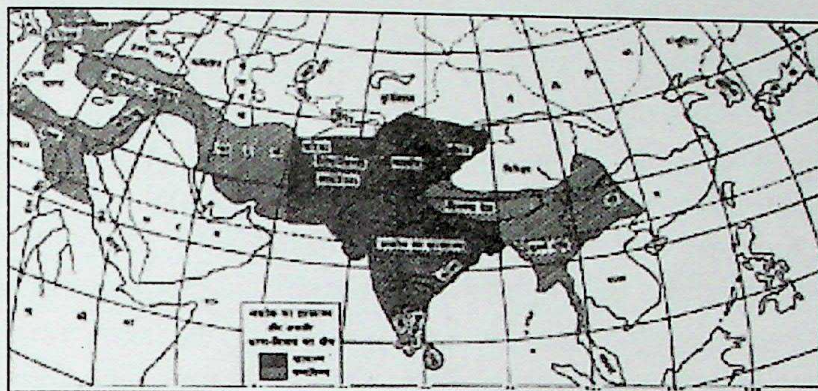
चित्र–22 : धम्म विजय का क्षेत्र

धर्म प्रचारक	देश
1. मज्झन्तिक	कश्मीर तथा गांधार
2. महारज्ञित	यवन देश
3. मज्झिम	हिमालय देश
4. धर्मरक्षित	अपरान्तक
5. महाधर्मरक्षित	महाराष्ट्र
6. महादेव	महिषमण्डल
7. रक्षित	बनवासी
8. सोन तथा उत्तर	सुवर्णभूमि
9. महेन्द्र तथा संघमित्रा	श्रीलंका

अतः अशोक का धम्म या बौद्ध धर्म भारत से बाहर एशिया के विभिन्न भागों में फैला और अब वह अन्तर्राष्ट्रीय धर्म बन गया।
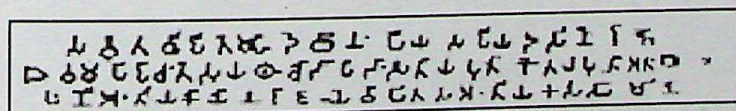
चित्र–23 : गिरनार का द्वितीय शिलाभिलेख

सर्वत विजितम्हि देवानांप्रियस राञो
एवम अपि प्रचंतेसु यथा चोडा पाड़ा सतियपुतो केतलपुतो आ तंबपणी
अंतियको योनराजा ये वा पि तस अंतियकस सामीपं

शाहबाजगढ़ी के 13वें अभिलेख[28] में अशोक कहता है कि, 'उसके धम्म मिशन सीमावर्ती राज्यों

और 600 योजन जैसे सुदूर क्षेत्रों में भी पहुंचे थे।' शिलाभिलेख द्वितीय एवं 13वें में यवन नरेश अंतियोक का उल्लेख है जो अखमनी एन्टीयोकस–II माना जाता है।

रूद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में (प. भारत) अशोक के गवर्नर के रूप में यवनराज तुषास्प का नाम मिलता है जो ईरानी नाम है। पश्चिम के जिन नरेशों के नाम शिलाभिलेख नं.–13 में मिलते हैं वे तुरमाय, अंतकिनी, मका व अलिकसुन्दर हैं जो अन्तियोक के राज्य के परे बताए गए हैं। अशोक के विजित क्षेत्र के अन्तर्गत दक्षिण में (चित्र–23) चोल, पाण्ड्य, सतियपुत्र व ताम्रपर्णी राज्य थे।[29]

मौर्य प्रभाव की जो प्रक्रिया चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में दक्षिण में प्रारम्भ हुई, वह अशोक की धम्म विजय के नेतृत्व में और अधिक पुष्ट हुई। गावीमठ, ब्रह्मगिरि, मास्की, गिरनार, जटिंग व रामेश्वर, आदि स्थलों पर स्थित अशोक के शिलाभिलेख इसके प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त कश्मीर सीमावर्ती प्रदेशों की ही तरह अशोक के साम्राज्य से जुड़ा था। मध्य–एशिया में स्थित खोतान के राज्य के बारे में एक तिब्बती परंपरा है कि बुद्ध की मृत्यु के 250 वर्ष बाद अर्थात् 236 ई. पू. में अशोक खोतान गया था जो संभवतः धम्म–मिशन के रूप में हुआ होगा।[30] इसी प्रकार नेपाल का भी कुछ अंश मौर्य–साम्राज्य में रहा होगा, क्योंकि बुद्ध की जन्मभूमि लुम्बिनी में अशोक की यात्रा के उपलक्ष्य में वहां के करों को कम करना किसी विदेशी राज्य में सम्भव नहीं था, फिर भी नेपाल का शेष अंश संभवतः मौर्य–साम्राज्य से घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए हुआ था।[31]

अशोक के धम्म का विश्लेषण :

अशोक के धम्म का विश्लेषण विद्वानों के लिए सदैव विवादास्पद रहा है कुछ इतिहासकार बौद्ध धर्म से धम्म में वर्णित नैतिक मूल्यों की समानता को आधार बनाकर उसे बौद्ध धर्म का विस्तार भर मानते हैं, वहीं कुछ ऐसे दूसरे इतिहासकार भी हैं जिन्होंने यह स्थापित करने की चेष्टा की है कि धम्म में हम जिन नैतिक मूल्यों की समानता देखते हैं वह पुराना पकिति (प्राचीन परम्परा) का ही विस्तार है।[32] यदि धम्म का विश्लेषण किया जाए तो ब्राह्मण–धर्म, आजीविका सम्प्रदाय, दूसरे समसामयिक सम्प्रदायों एवं प्राचीन परम्पराओं में इन नैतिक मूल्यों को ढूंढा जा सकता है। अशोक के सारनाथ सिंह–स्तंम्भ लेख (चित्र–24) में भी इन नैतिक मूल्यों की झलक देखी जा सकती है।

चित्र–24 : अशोक का स्तंम्भ शीर्ष, सारनाथ

सामान्य राजधर्म अथवा ब्राह्मण धर्म :

जे.एफ. फ्लीट[33] महोदय का विचार है कि अभिलेखों में अशोक ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया है वह वस्तुतः राजधर्म अर्थात् राजाओं के लिए बताए गए कर्त्तव्यों का 'संग्रह' था। महाभारत में भी राजधर्म का सविस्तार वर्णन है परन्तु डी. आर. भण्डारकर[34] ने अशोक के अभिलेखों का धम्म राजाओं व गवर्नरों द्वारा पालनीय धर्म नहीं, अपितु प्रजा के लिए आचरणीय बताया है।

> According to Bhandarkar, 'he expounded his policy of dhamma to eliminate social tension and sectarian conflicts, and to promote a harmonious relationship between the diverse elements of the vast empire. Ashoka's dhamma was neither a new religion nor a new political philosophy. Rather, it was a way of life, a code of conduct and a set of principles to be adopted and practised by the people at large.'

जे.एफ. मैकफेल[35] ने कहा है कि अशोक का धम्म ब्राह्मण धर्म ही है, अन्तर मात्र इतना है कि इस पर बौद्ध–धर्म की छाया है अथवा यह कहना उचित होगा कि इसमें वे नैतिक नियम हैं जिन पर बौद्ध धर्म खड़ा

है, परन्तु जिसका हिन्दू धर्म में गौण स्थान है। हेरास[36] ने भी इसे ब्राह्मण–धर्म के उपदेशों पर आधारित सामान्य धर्म माना है, परन्तु अशोक के धम्म में ब्राह्मण धर्म के विशिष्ट सिद्धान्तों की कोई चर्चा नहीं हैं। अशोक को ब्राह्मण धर्मग्रन्थों में इस धर्म का अनुयायी कभी नहीं माना गया, क्योंकि गार्गी–संहिता में तो मौर्यो की धम्मविजय नीति की निंदा की गई है। अशोक ने धम्म का प्रचार न केवल बौद्ध धर्म स्वीकार करने के बाद किया, वरन् वह स्पष्ट कहता है कि संघ में जाने के बाद उसने विशेष पराक्रम करना शुरू कर दिया।

बौद्ध धर्म का ही एक रूप

विद्वानों का एक वर्ग ऐसा भी है जो अभिलेखों में प्रतिपादित धम्म को उसके व्यक्तिगत बौद्ध धर्म का ही रूप मानता है। प्रो. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय[37] ने उसके धम्म को सामान्य जनों के लिए श्रमण विचार परम्परा का सारभूत माना है। ई.सेनार्ट[38] महोदय का विचार है कि अशोक के उपदेशों एवं धम्मपद के विचारों में पर्याप्त समानता है। अशोक के काल में बौद्ध–धर्म में न तो विशिष्ट धार्मिक–सिद्धान्तों एवं भिक्षुओं का आगमन हुआ था और न इसके नियम भली–भांति परिभाषित हुए थे। अतः अशोक के धम्म को बौद्ध धर्म मानने में कोई कठिनाई नहीं है, परन्तु सेनार्ट की यह मान्यता सही नहीं जान पड़ती, क्योंकि बौद्ध धर्म के नियम व सिद्धान्त अशोक के बहुत पहले विकसित हो चुके थे। स्वयं भगवान् बुद्ध के उपदेशों में बौद्ध धर्म सुस्पष्ट है।[39] डी.आर. भण्डारकर का मत[40] है कि अभिलेखों का धम्म बौद्ध धर्म का वह रूप है जो गृहस्थ उपासकों के लिए बताया गया है। यद्यपि अशोक का धम्म उन सिद्धान्तों को स्वीकृत करता है जिनको सभी धर्म मानते हैं। अशोक को स्वयं उनकी प्रेरणा बौद्ध धर्म से मिली थी।

यदि यह मान लिया जाए कि अशोक स्वयं बौद्ध था और गृहस्थों को उपदेश दे रहा था तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होगा कि उसने अभिलेखों में अष्टांगिक मार्ग व निर्वाण आदि का कोई उल्लेख नहीं किया। उसने स्वर्ग को धम्म का पारलौकिक सुख बताया, क्योंकि बौद्ध धर्म के अनुसार स्वर्ग का ध्येय उपासकों के लिए है व निर्वाण का भिक्षुओं के लिए।

सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने के लिए एक वैचारिक अविष्कार :

रोमिला थापर[41] ने अशोक के धम्म को तत्कालीन राजनीतिक–सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिए उसके द्वारा किया गया एक वैचारिक आविष्कार माना है। उनका मत है कि अशोक के राज्यारोहण के समय उसके विशाल साम्राज्य में एकता व केन्द्रीयकरण को सबल बनाने वाले तत्त्व पहले से ही विद्यमान थे, केवल वैचारिक स्तर पर एकीकरण की आवश्यकता थी। उसके सामने दो विकल्प थे– सैनिक शक्ति एवं राजा के देवत्व की अवधारणा तथा किसी धर्म का सहारा लेना। उसने दूसरे विकल्प को स्वीकार किया। अशोक बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट न तो कलिंग–युद्ध जनित पश्चाताप के कारण हुआ, न किसी दैवी प्रेरणा से और न ही इस धर्म में रुचि किसी बौद्ध–अर्हत् के कारण अचानक उत्पन्न हुई। वह भी अपने युग के विचारों से प्रभावित हुआ था। उस काल की राजनीतिक–सामाजिक परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए उसने बौद्ध धर्म को अपना

चित्र–25 : मौर्य साम्राज्य के बौद्ध चिन्ह वाले चांदी के आहत सिक्के

व्यक्तिगत धर्म बनाया, परन्तु सामान्य जनता के लिए उसने जिस धम्म का प्रतिपादन किया वह उसका वैचारिक आविष्कार था। यद्यपि वह बौद्ध धर्म से प्रेरित हुआ तथापि उसका उद्देश्य जनता के सम्मुख एक ऐसा जीवन–दर्शन रखना था जो व्यवहारिक होने के साथ–साथ राजनीतिक एकता स्थापित करने वाला व सामाजिक तनाव को दूर करने वाला भी हो।

According to Romila Thapar[42]. "Ashoka's Dhamma is a superb document of his essential humanity and an answer to the socio-political needs of the contemporanceous situation. It was not anti-Brahmanical because respect for the Brahmans and Sarmanas is an integral part of his Dhamma. Ashoka's empire was a conglomerate of diverse groups; farmers, pastoral nomade and hunter-gatherers, there were Greeks, Kambojas, and Bhojas and hundreds of groups with different traditions. Ashoks tried to transcend the parochial cultural tradition with a board set of ethical principles."

अशोक के तात्कालिक परिवेश ने निःसंदेह इस नीति को रूप देने में भूमिका निभाई। चूंकि उस युग में प्रचलित विभिन्न–सम्प्रदायों के संघर्ष से तथा विरोधियों के कारण सामाजिक ढांचे में तनाव पैदा हुए, इसलिए अशोक ने समन्वय उत्पन्न करने वाले सिद्धान्तों की खोज में हर प्रकार के बुनियादी सिद्धान्तों पर अपना ध्यान केन्द्रित करके धम्म–नीति का निर्माण किया। निःसन्देह अशोक की धम्म अवधारणा राजनीतिक एकता एवं सामाजिक तनाव को दूर करने व लोक कल्याण की व्यवस्था करने का वैचारिक साधन थी उसके आजीविकों को गुफाएं दान देने से पता चलता है कि उसने किसी धर्म के प्रति भेदभाव नहीं किया।[43]

अशोक का धम्म सभी धर्मों का सार

डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी[44] की मान्यता है कि अशोकीय धम्म में आचरण के ऐसे सिद्धान्त थे जो सभी धर्मों व सम्प्रदायों को समान रूप से मान्य थे।

According to R.K. Mukherji, "Ashoka's policy of dhamma has often been equated with his conversion to Buddhism. He is credited with the propagation of the tenets of the Buddhist sect. It appears that diverse religious ideas and practices existed in the vast empire of the Mauryas. But the followers of such sects as Buddhism, Jainism and Ajivikism were held in contempt by the brahmanas, whose position they must have undermined."

जे.एफ. मैकफेल[45] ने भी समर्थन करते हुए कहा है कि, 'धम्म का अभिप्राय बौद्ध धर्म से न होकर उस सामान्य सदाचरण से था जिसका पालन अशोक अपनी सम्पूर्ण प्रजा से करवाना चाहता था। चाहे वह किसी भी धर्म को मानने वाली हो।'

वी.ए. स्मिथ[46] की भी यही मान्यता है कि अशोक धम्म में जिन बातों को ग्रहण करता है, वे निश्चित रूप से भारत के सभी धर्मों में समान रूप से मान्य थी। निःसन्देह जो भी अशोक के धम्म–नियमों पर विचार करता है वह उसकी शिक्षाओं की सादगी से प्रभावित हुए बिना नहीं रह

सकता। उसके धम्म को सभी धर्मों की सर्वमान्य सम्पत्ति समझा जा सकता है। अतः सभी विद्वान मानते हैं कि यद्यपि अशोक बौद्ध धर्म का अनुयायी था, उसने अभिलेखों में जिस धम्म का प्रतिपादन किया वह बौद्ध धर्म नहीं, अपितु जनता का सार्वभौमिक धर्म था। जो सभी भारतीय धर्मों व सम्प्रदायों को समान रूप से स्वीकार्य था।

धम्म नीति का प्रभाव

अशोक ने अपनी धम्म विजय नीति में महती सफलता का दावा करते हुए अपने मास्की के लघु शिलालेख[47] में कहा है 'अमिसा देवा हुसु ते दानि मिसी भुता' अर्थात् अब तक देवता मनुष्यों से अमिश्र थे, उन्हें अब मिश्र कर दिया गया। कंधार द्विभाषी लेख[48] के अरेमाइक संस्करण में कहा गया है कि 'दस वर्ष व्यतीत होने पर राजा प्रियदर्शी ने लोगों को धर्मोपदेश देने का निश्चय किया, तभी से संसार के मनुष्यों में पाप कम हो गया व सारे संसार में शांति–व्याप्त हो गई।'

दश–वषाभिषितेन रञ् प्रियद्रशिन जनस्पि ध्रमनुशस्ति पवहित। ततो
चु तेन मुनिस बढतरं ध्रम–युत कट प्रण च वढित हित–सुखेन।
सव्र–पुठविच। रञ चु प्रणरंभो परितिजित। सव्रे हि च मनुरोहि
लुडकेहि च सव्रे हि केवटेहि च रञे परितिजित विहित भुतनं।

इस प्रकार अहिंसा का प्रचार होने के साथ–साथ प्रजा का नैतिक जीवन उच्च होने लगा।

According to Romesh Chandra Mujumdar[49], Dhamma was not the policy of a heretic but a system of beliefs created out of different religious faiths.

अशोक ने धम्म प्रचार के लिए विदेशों में भी प्रचारक भेजे। इस प्रकार साम्राज्य का भी विस्तार होने लगा, उसने शिलालेखों, स्तंम्भों व धम्म प्रचार के लिए अपने समस्त कोष को खाली कर दिया। उसकी धम्म नीति के प्रति ब्राह्मणों ने भी प्रतिक्रिया की। यद्यपि धम्म–नीति का प्रभाव दोहरा पड़ा फिर भी यह अशोक को महान् एवं चक्रवर्ती सम्राट की संज्ञा से नामित करता है।

निष्कर्ष

निःसंदेह अभिलेखों से जिस धर्म का ज्ञान होता है वह नैतिक व साधु जीवन का ही अन्य नाम था। इसे किसी भी तरह किसी सम्प्रदाय से नहीं बांधा जा सकता। इसका रूप सार्वभौम था। यह सभी धर्मों का सार था। एक विशाल साम्राज्य के राजा के लिए, जिसमें विभिन्न धर्मों का पालन करने वाली जातियां रहती हों तथा जो विकास की विभिन्न अवस्थाओं में हों, ऐसा ही धर्म वांछित भी है। अशोक को अपनी समस्त प्रजा के सुख–लाभ की चिंता थी। इसलिए उसने बहुत विचार कर इस व्यवस्था का चयन किया होगा ताकि वह अपनी प्रजा के किसी भी वर्ग को आघात पहुंचाए बिना इसे सभी पर समान रूप से लागू कर सके। इस प्रकार उसने एक विश्व धर्म की नींव रखी।

'धम्मेन पालना' धम्मेन सुखियना, 'धम्मेन विधाने' व धम्मेन गोती' शब्दों से यही प्रकट होता

है कि धम्म उसके शासन की आधार–पीठिका था। अशोक की भाँति अकबर ने भी 'सुलह–ए–कुल' या 'दीन–ए–इलाही' की नीति को प्रारम्भ किया जो एक प्रकार से अशोक के धम्म नैतिक एवं सामाजिक नियमों का ही रूपांतरण था। भारत का राष्ट्रीय चिन्ह अशोक के सारनाथ सिंह–स्तंम्भ से लिया गया है जो प्राचीन काल से ही सत्य की जीत होती है, का संदेश देता है, इतना ही नहीं, अशोक के इन अभिलेखों और स्तंम्भ अभिलेखों से प्रेरित होकर थाईलैंड के राजा ने भी अपने राज्य में इसी तरह के अशोक चक्र से युक्त स्तंम्भ अभिलेखों का निर्माण करवाया।

According to H.G. Wells[50] "In the history of the world there have been thousands of kings and emperors who called themselves 'Their Highnesses', 'Their Majesties' and 'Their Exalted Majesties' and so on. They shone for a brief moment, and as quickly disappeared. But Ashoka shines and shines brightly like a bright star, even unto this day".

चित्र सूची

संदर्भ

1. Hultzsch. E., The Inscriptions of Asoka, Corpus Inscription Indicarum, Vol.-1, 1925, pp. 26-24.
2. वही, पंक्ति 9–10
3. भाब्रु (बैराट) लघु शिलालेख, पंक्ति–2
   Hultzsch. E., Inscriptions of Asoka, Corpus Inscription Indicarum, Vol.1, Oxford, 1925, p. 172.
4. G.S. Murti and A.N.K. Aiyangar, Edicts of Asoka, pp. 120&125. सांची लघु शिलालेख से उद्धृत, पंक्ति 5–8
5. विद्यालंकार, सत्यकेतु, 1985, मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ. 25
6. गोयल, श्रीराम, 1988, प्रियदर्शी अशोक, पृ. 108; योगेन्द्र मिश्र, 1993, अशोक, पृ. 40–41
7. G. Buhler, Epigraphica Indica, Vol. II, p. 249; Hultzsch. E., Corpus Inscription Indicarum, Vol. I, pp. 120&121.
8. G.S. Murti and A.N.K. Aiyangar, op. cit., p. 104-111.
9. मिश्र, योगेन्द्र, 1993, अशोक, पृ. 40–41; Sarcar, D.C. Inscriptions of Asoka, 2nd Edition, Delhi, 1967.
10. चतुर्थ गिरनार शिलाभिलेख, पंक्ति, 5–7, Sastri, Hiranand, The Ashokan-Rock Edicts at Girnar, Baroda, 1936, p.8.
11. मूर्ति, जी.एस., अशोक के अभिलेख, (नवम् गिरनार शिलाभिलेख से उद्घृत), पंक्ति 4–7, पृ. 50
12. गुप्त, परमेश्वरी लाल, 1996, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, पृ.55
13. Talim, Meena, 2010, Edicts of King Asoka, p. 49; Buhler, G, Asoka's Rock Edicts, Epigraphica Indica, Vol. II, New Delhi, 1984, pp. 465-70.
14. मूर्ति, जी.एस., अशोक के अभिलेख, पृ. 50
15. G. Buhler, Epigraphica Indica, Vol.II, p. 249; E. Hultzsch, Corpus Inscription Indicarum, Vol. I, pp. 121-122.
16. E. Hultzsch, Inscriptions of Asoka, Corpus Inscription Indicarum, Vol. I, Oxford, 1925, p. 211-215.

17. Sastri, Hiranand, The Asokan Rock Edicts at Girnar, Baroda, 1936, p. 8; Buhler, G., Asoka's Rock Edicts, Epigraphica Indica, Vol. II, 1984, New Delhi, pp. 448-49.
18. Sastri, Hiranand, op. cit., Baroda, 1936, p. 9.
19. गोयल, श्रीराम, 1988, प्रियदर्शी अशोक, पृ. 113–114.
20. Norman, K.R., 'Notes on the Asokan Rock Edicts', Vol. X, 1967, p. 161.
21. मिश्र, योगेन्द्र, 1993, अशोक, पृ. 38–40.
22. Talim, Meena, 2010, Edicts of King Asoka, p. 14.
23. Sastri, Hiranand, op. cit Baroda, 1936, p. 9; Singh Upendra, 2008, A History of Ancient and Early Medieval India, p. 100.
24. Ibid, p. 25
25. गोयल, श्रीराम, 1988 प्रियदर्शी अशोक, पृ. 118
26. झा, द्विजेन्द्र नारायण एवं श्रीमाली, 1981, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 186; विद्यालंकार सत्यकेतु, 1985 मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ.
27. Sastri, Hiranand, op. cit., Baroda, 1936, p. 9; Davids. T.W., Rhys, Buddhist India, London, 1903, p. 306.
28. Buhler, G, Asoka's Rock Edicts across Girnar, Epigraphica Indica, Vol. I, New Delhi, 198.
29. थापर, रोमिला, 1977, अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन, पृ. 50
30. झा, द्विजेन्द्र नारायण एवं श्रीमाली, 1981, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 18.
31. गोयल, श्रीराम, 1988 प्रियदर्शी अशोक, पृ. 119–120.
32. थापर, रोमिला, 1977, अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन, पृ. 150
33. फ्लीट, जे. एफ.., जरनल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, 1908, पृ. 491–497
34. भण्डारकर, डी. आर. 1969, अशोक, कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 103
35. Macphail, James Merry, 1918 'Asoka' Calcutta, The Associative Press; London Oxford University Press., p. 29-30.
36. गोयल, श्रीराम, 1988, प्रियदर्शी अशोक, पृ. 110
37. पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र, श्रमण ट्रेडीशन, पृ. 50.
38. सेनार्ट ई., इण्डियन एन्टिक्वेरी, 1891, पृ. 264–265; Senart, E., Inscriptions de Piyadasi, Paris, 1881-1886, Vol. II.
39. बी. एम. बरूआ, 1968, अशोक एण्ड हिज इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ. 225–282.
40. भण्डारकर, डी. आर. 969, अशोक, पृ. 105
41. गोयल, श्रीराम, 1988, प्रियदर्शी अशोक, पृ. 113; मुखर्जी, राधाकुमुद, 1976, अशोक, पृ. 73–74.
42. थापर, रोमिला, 1977, अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन, पृ. 55.
43. गोयल, श्रीराम, 1988, प्रियदर्शी अशोक, पृ. 112
44. मुखर्जी, राधाकुमुद, 1976, अशोक, पृ. 76–77.

45. Macphail, James Merry, 1918 'Asoka' Calcutta, The Associative Press; London Oxford University Press., p. 48.

46. स्मिथ, वी.ए., अशोक, पृ. 45; विद्यालंकार, सत्यकेतु, 1985, मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ. 506.

47. G.S. Murti and A.N.K. Aiyangar, Edicts of Asoka, Madras, 1950, p. 80

48. Rastogi, N. P., Inscriptions of Asoka, Corpus Inscription Indicarum, Vol. I, Varanasi, Chowkhamba Sanskrit Series, 1990, p. 33341.

49. Ramesh Chandra Majumdar, 1977. Ancient India, Motilal Banarsidas, p-30.

50. Wells, H.G. Ashoka, 1992. A Short History of the World, (chapter-29) New York: Macmillan.

□□

“संग्रहालय : ज्ञान का वातायन”

मथुरा कला में केतु

कृष्ण कुमार*

भारतीय शिल्प के इतिहास में मथुरा कला का एक विशिष्ट स्थान है। यद्यपि मथुरा कला का आविर्भाव बौद्ध प्रतिमाओं से हुआ, किन्तु शीघ्र ही उसमें जैन एवं ब्राह्मण धर्मी मूर्तियों का भी निर्माण होने लगा। सम्प्रदायगत देव विग्रहों के साथ ही मथुरा में कुछ ऐसे भी देवी–देवताओं का अंकन हुआ, जिनकी उपासना किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय विशेष तक सीमित न थी, जैसे अष्ट दिक्पाल 'नवग्रह' आदि। मथुरा एवं उसके समीपवर्ती क्षेत्र से अनेक नवग्रह मूर्तियां प्रकाश में आई हैं, जो प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन मूर्तियों के अध्ययन से केतु के विकासशील स्वरूप पर विशेष प्रकाश पड़ता है। जहाँ तक मुझे विदित है अभी तक इन मूर्तियों का स्वतन्त्र रूप से मूल्यांकन नहीं हुआ है। प्रस्तुत लेख मथुरा की नवग्रह मूर्तियों के सन्दर्भ में केतु के क्रमिक विकास के निरूपण का एक लघु प्रयास है।

यह सर्वविदित है कि भारत में देवी प्रकोप से सुरक्षा हेतु ग्रहों की पूजा का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन है। प्रारम्भ में अर्चना हेतु ग्रहों का रेखांकन विभिन्न रंगों, अन्नपूर्ण अथवा सुगन्धित लेपों द्वारा किया जाता था, किन्तु बाद में उनकी मूर्तियों का निर्माण अलग–अलग अथवा समूह में काष्ठ, अर्धमूल्यवान पत्थरों, धातु आदि से होने लगा। सामूहिक रूप से ग्रहों का अंकन शेषशायी विष्णु प्रतिमाओं के अतिरिक्त मध्य–कालीन देव मन्दिरों के प्रवेश द्वारों पर भी प्रायः मिलता है। दक्षिण भारत में नवग्रह मूर्तियों का निर्माण न केवल अलग–अलग होता था, वरन् उन्हें भिन्न–भिन्न मण्डपों में स्थापित भी किया जाता था। यद्यपि सूर्य के मानुषी स्वरूप का अंकन शुंग काल में होने लगा था, किन्तु चन्द्र के साथ उसकी युगल प्रतिमा का निर्माण कुषाण काल तक हुआ। अष्ट ग्रहों का सामूहिक रूप से अंकन सर्वप्रथम गुप्त काल में हुआ। सारनाथ से प्राप्त एक उत्तर गुप्त कालीन खण्डित शिलापट्ट पर अन्तिम चार अष्ट ग्रहों–गुरू, शुक्र, शंनि एवं राहु का अंकन है।[1] इससे स्पष्ट है कि लगभग छठी शताब्दी ई. तक केवल अष्टग्रहों की पूजा का विधान था। सम्भवतः अशुभ सूचक होने के कारण केतु की पूजा वर्जित थी।

प्रथम चरण (केतु का स्त्री स्वरूप)

नवग्रह मूर्तियों का निर्माण सर्वप्रथम गुप्तोत्तर काल में हुआ। इसका प्राचीनतम् उदाहरण मथुरा से प्राप्त है, जो सम्प्रति राज्य संग्रहालय, लखनऊ में सुरक्षित है[2] इसे खण्डित शिलापट्ट पर केवल अन्तिम चार नवग्रहों–शुक्र, शनि, राहु एवं केतु का अंकन है। मूर्ति विज्ञान की दृष्टि से इस शिलापट्ट का विशेष महत्व इसलिये है क्योंकि इसमें हमें सर्वप्रथम केतु के दर्शन होते हैं। यहां राहु को तर्पण मुद्रा में तथा उसके वाम भाग में केतु को एक गर्भवती स्त्री के रूप में स्थानक मुद्रा में दर्शाया गया है। यद्यपि प्रतिमा क्षतिग्रस्त होने के कारण केतु के आयुध दृष्टिगोचर नहीं हैं, किन्तु

***पूर्व रजिस्ट्रीकरण अधिकारी, पुरावशेष एवं बहुमूल्य कलाकृति, गोरखपुर मण्डल, गोरखपुर**

शुक्र एवं शनि की भांति सम्भवतः उसका दाहिना हाथ अभय मुद्रा में तथा बायें हाथ में कमण्डलु रहा होगा।[3] इस मूर्ति की तिथि लगभग आठवीं शताब्दी ई. है। केतु का स्त्री स्वरूप खजुराहों एवं एटा जनपद के रिजोर नामक ग्राम में भी उपलब्ध है। खजुराहों एवं रिजोर स्थित प्रतिमाओं में केतु को स्त्री रूप में क्रमशः राहु के वाम एवं अधोभाग में दर्शाया गया है। उक्त प्रतिमायें लगभग दसवीं शताब्दी ई. की हैं। उपलब्ध पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि नवग्रह प्रतिमा अथवा केतु का अंकन सर्वप्रथम मथुरा में हुआ।

द्वितीय चरण (केतु का पुरुष स्वरूप)

विकास क्रम के द्वितीय चरण में केतु का अंकन पुरुष रूप में हुआ। इस प्रकार के दो उदाहरण राजकीय संग्रहालय, मथुरा में हैं। इनमें प्राचीनतम् प्रतिमा लगभग दसवीं शती ई. के प्रारम्भ की है। इस खण्डित शिलापट्ट पर केवल अन्तिम तीन ग्रह, शनि, राहु एवं केतु शेष हैं।[4] यद्यपि शनि एवं केतु के मस्तक एवं आयुध नष्ट हो चुके हैं, सम्भवतः उनके दाहिने हाथ अभय मुद्रा में तथा बांये हाथ में कमण्डलु थे। दूसरी प्रतिमा जो परिलक्षित दशा में हैं, दसवीं शती ई. के अन्त की है। इसमें राहु के नीचे प्रथम बार कुण्ड भी दर्शाया गया है। सर्प फण से युक्त केतु स्थानक मुद्रा में हैं।[5] उसका दाहिना हाथ अभय मुद्रा में तथा बायें हाथ में कमण्डलु है। केतु का अंकन अपराजितपृच्छ एवं रूपमण्डन पर आधारित है। सम्भवतः इस प्रकार की मूर्तियां अन्य स्थानों में भी हों, किन्तु अभी तक वे प्रकाश में नहीं आई हैं।

तृतीय चरण (केतु का नागी स्वरूप)

विकास के तृतीय चरण में केतु का अंकन नागी (आवक्ष भाग स्त्री तथा अधो भाग सर्प) के रूप में हुआ। इस प्रकार की एक नवग्रह प्रतिमा मथुरा जनपद में असाबली नामक स्थान से प्राप्त हुई है, जो राजकीय संग्रहालय, मथुरा में सुरक्षित है। इसमें समस्त ग्रह आसन मुद्रा में प्रदर्शित हैं। सूर्य के अतिरिक्त प्रथम ग्रहों के दाहिने हाथ अभय मुद्रा में पद्म धारण किये हैं तथा बायें हाथों में कमण्डलु हैं। राहु के बाम भाग में केतु अर्धस्त्री एवं अर्ध सर्प के रूपमें अंजलि मुद्रा में प्रदर्शित हैं। राहु एवं केतु का अंकन आंशिक रूप में रूपमण्डन तथा अपराजितपृच्छा से प्रभावित है।[6] की दृष्टि से यह प्रतिमा लगभग नवीं शती के प्रारम्भ की प्रतीत होती है। इस प्रकार की प्रतिमायें अलीगढ़, बटेश्वर, खजुराहों,[7] रेह, कड़ा,[8] भीटा,[9] आदि स्थानों से भी प्रकाश में आई हैं। ऐसा एक उदाहरण राज्य संग्रहालय, लखनऊ में भी है।[10] उक्त सभी प्रतिमायें लगभग नवीं एवं बारहवीं शती ई. के मध्य की हैं। किन्तु रेह (फतेहपुर जनपद) स्थित नवग्रह प्रतिमा (जो लगभग नवीं शती की है) के अतिरिक्त अन्य सभी मूर्तियां मथुरा की तुलना में बाद की हैं।

चतुर्थ चरण (केतु का नाम स्वरूप)

चतुर्थ चरण में केतु का अंकन नाग (आवक्ष भाग पुरुष एवं अधोभाग सर्प) के रूप में हुआ है। ऐसी एक नवग्रह प्रतिमा मथुरा के निकट परखम से प्राप्त हुई है, जो राजकीय संग्रहालय, मथुरा में है।[11] इसमें समस्त ग्रह आसन मुद्रा में अंकित हैं। सूर्य के अतिरिक्त प्रथम सात ग्रहों के दाहिने हाथों

में कमल व बायें हाथ में कमण्डलु सुशोभित हैं। राहु एवं केतु क्रमशः तर्पण व अंजलि मुद्रा में दर्शाये गये हैं। शैली की दृष्टि से इसे लगभग तेरहवीं शती ई. में रख सकते हैं। इस प्रकार के अनेक उदाहरण उत्तर भारत में आगरा, खजुराहों,[12] सारनाथ,[13] आदि स्थानों पर उपलब्ध हैं, जो लगभग दसवीं एवं बारहवीं शती ई. के मध्य काल की हैं। इनके अतिरिक्त पूर्वी भारत में काकनडीधी (बंगाल)[14], कोणार्क[15], व भुवनेश्वर (उड़ीसा), तथा दक्षिणमें चिदम्बरम (तामिलनाडु)[16] से भी इस प्रकार की प्रतिमायें प्रकाश में आई हैं, जो लगभग बारहवीं–तेरहवीं शती ई. की हैं। किन्तु उनके आयुध भिन्न हैं। उड़ीसा में राहु के बायें व दाहिने हाथों में क्रमशः पुस्तक व चन्द्र दर्शाये गये हैं, जो सम्भवतः विष्णुधर्मोत्तर से प्रभावित हैं। इसी प्रकार केतु के बायें हाथ में दीपक व दाहिने हाथ में खड्ग हैं, जो स्पष्टतः अग्निपुराण पर आधारित हैं। लगभग बारहवीं शती ई. में निर्मित चिदम्बरम स्थित राहु एवं केतु की सर्प फण से युक्त आवक्ष युगल प्रतिमायें सम्मिलित रूप से एक कुण्ड के ऊपर प्रदर्शित हैं।

पंचम चरण (केतु का सर्प स्वरूप) :–

विकास के पंचम एवं अंतिम चरण में केतु का अंकन पूर्ण रूप से पांच फण वाले कुण्डली सर्प के रूप में हुआ है। ऐसी एक मात्र प्रतिमा राजकीय संग्रहालय, मथुरा में है।[17] इसमें समस्त ग्रह आसन मुद्रा में चित्रित हैं। सूर्य, राहु एवं केतु के अतिरिक्त शेष सभी ग्रह दाहिने हाथ में कमल व बायें हाथ में कमण्डलु धारण किये हैं। यहां केतु को राहु के ठीक ऊपर एक पांच फण वाले कुण्डली सर्प के रूप में दर्शाया गया है। इस प्रकार के अन्य उदाहरणों के अभाव में प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से इसे अद्वितीय कहा जा सकता है मथुरा कला में केतु के क्रमिक विकास को इस संक्षेप में निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत कर सकते हैं :–

चरण	प्रकार	रूप	संग्रहालय	संख्या	काल
प्रथम	मानव	स्त्री	लखनऊ	58.13	आठवीं शती ई.
द्वितीय	मानव	पुरुष	मथुरा	38.2836 80.23	दशवीं शती ई.
तृतीय	मानव–सर्प	नागी	मथुरा	504.00	नवीं शती ई.
चतुर्थ	मानव–सर्प	नाग	मथुरा	17.135	तेरहवीं शती ई.
पंचम	सर्प	सर्प	मथुरा	73.22	बारहवीं शती ई.

इस सन्दर्भ में सिकन्दरा राऊ (अलीगढ़ जनपद) से प्राप्त एक खण्डित शिलापट्ट भी उल्लेखनीय है। लगभग दसवीं शती ई. की यह नवग्रह प्रतिमा संप्रति राजकीय संग्रहालय, मथुरा में सुरक्षित है। प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से यह प्रतिमा इसलिए महत्वपूर्ण है कि इसमें नवग्रहों का प्रारम्भ कुबेर से दर्शाया गया है। किन्तु आगरा एवं सारनाथ स्थित उदाहरणों में नवग्रहों का प्रारम्भ गणेश से हुआ है। इसके विपरीत महाराष्ट्र में माण्डक नामक स्थान से प्राप्त एक प्रतिमा में गणेश का अंकन नवग्रहों के अन्त में हुआ है।[18] जो सम्भवतः नवग्रह पूजा के शुभ समापन का द्योतक है।

उक्त विवेचन के आधार पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुंचते हैं :–

1. नवग्रह मूर्तियों में केतु का स्त्री रूप में अंकन सर्वप्रथम मथुरा में लगभग आठवीं शताब्दी ई. में प्रारम्भ हुआ। यह मथुरा कला को ब्राह्मण धर्म की एक महत्वपूर्णदेन है।

2. नवग्रह मूर्तियों के विकास क्रम में केतु एक मात्र ऐसा ग्रह है, जिसका अंकन सबसे अन्त में प्रारम्भ हुआ, किन्तु जिसके स्वरूप में सबसे अधिक परिवर्तन हुये। मानव स्वरूप से प्रारम्भ कर केतु मानव–सर्प स्थिति पार कर अन्त में पूर्ण रूप से सर्प रूप को प्राप्त हुआ। इससे स्पष्ट है कि केतु की स्थिति में निरन्तर ह्रास होता रहा अन्य ग्रहों की तुलना में शास्त्रकारों ने राहु की भांति केतु को हेय दृष्टि से देखा, जो सम्भवतः उनकी अनार्य (नाग) उत्पत्ति के कारण था। उक्त विकास क्रम के बावजूद केतु के पुरपनेरू स्वरूप पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुये। उनका प्रचलन बाद में उसके नवीन स्वरूपों के साथ भी होता रहा।

3. नवग्रह प्रतिमाओं में केतु एवं सर्प का घनिष्ठ सम्बन्ध दर्शाया गया है। ब्राह्मण नवग्रह मूर्तियों के अतिरिक्त जैन व बौद्ध धर्म में भी सर्प का अंकन प्रायः केतु के आयुध अथवा वाहन के रूप में हुआ है। दक्षिण भारत में सर्प फण का प्रयोग राहु एवं केतु दोनों के साथ हुआ है। सम्भवतः सर्प राहु एवं केतु के नाग उत्पत्ति का द्योतक होने के साथ ही भय, कष्ट एवं मृत्यु का भी प्रतीक है। इस प्रकार नवग्रह मूर्तियों में राहु एवं केतु का अंकन आर्य एवं अनार्य (नाग) संस्कृतियों के समन्वय का प्रयास है। विकास क्रम के अन्तिम चरण में केतु का स्वरूप पांच फण वाला कुण्डली सर्प है, जिसका एक मात्र उदाहरण मथुरा संग्रहालय में उपलब्ध है। प्रतिमा शास्त्रीय दृष्टि से यह अद्वितीय है।

4. नवग्रह मूर्तियों के अंकन में शिल्पियों ने प्रायः क्षेत्रीय आधार पर विभिन्न मूर्तिशास्त्रीय ग्रन्थों का उपयोग किया है। उदाहरण स्वरूप जहां एक ओर उत्तर भारत में अपराजित पृच्छा एवं रूपमण्डन का उपयोग हुआ है, वहां दूसरी ओर पूर्वी भारत में विष्णु धर्मोत्तर तथा अग्निपुराण का। किन्तु कलाकारों ने मूर्तिशास्त्रीय नियमों का निर्वाह करने के साथ–साथ अपनी कल्पनाशक्ति का भी यथासम्भव प्रयोग किया है।

5. उत्तर भारत में नवग्रह मूर्तियों का प्रारम्भ प्रायः गणेश से होता है, किन्तु राजकीय संग्रहालय, मथुरा में उपलब्ध एकमात्र उदाहरण से नवग्रहों का प्रारम्भ कुबेर से हुआ है।

अन्त में यह उल्लेखनीय है कि उक्त निष्कर्ष सीमित पुरातात्विक साक्ष्यों पर आधारित होने के कारण पूर्णरूप से तदर्थ हैं। वास्तव में इस लेख का उद्‌देश्य विद्वानों का ध्यान मथुरा की नवग्रह प्रतिमाओं की ओर आकृष्ट करना मात्र है। आशा है विद्वतजन उनके महत्व पर विस्तृत पुरातात्विक एवं साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर नवीन प्रकाश डालेंगे।

सन्दर्भ

1. जे.एन. बनर्जी, द डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइकनोग्रैफी (नई दिल्ली, 1974) पृष्ठ 444, चि. 31,1.
2. एन.पी. जोशी, भारतीय मूर्तिकला (नागपुर, 1979 पृ. 296, संग्रहालय सं. 58.13.
3. रामाश्रय अवस्थी, खजुराहो की देवप्रतिमायें (आगरा, 1967) पृ. 194, चित्र 84, संग्रहालय सं. 6, 186 एवं 455.
4. एन.पी. जोशी, मथुरा स्कल्पचर्स मथुरा, 1966 पृ. 87, चित्र 91, संग्रहालय सं. 38.2836.
5. संग्रहालय सं. 80.23.
6. संग्रहालय सं. 504.
7. प्रमोद चन्द्र, स्टोन स्कल्पचर इन द इलाहाबाद म्यूजियम (बम्बई, 1970) पृ. 152.
8. वही, पृ. 139.
9. वही, पृ. 152.
10. संग्रहालय सं. एच–99.
11. संग्रहालय सं., 17.135.
12. अवस्थी, पृ. 194–196, चि. 83.
13. दयाराम साहनी, कैटलाग म्यूजियम ऑफ आरक्योलॉजी एट सारनाथ (कलकत्ता, 1914) पृ. 323.
14. बनर्जी, पृ. 445, चित्र 21,1.
15. देवला मित्रा, कोणार्क नई दिल्ली, 196 पृ. 23, चित्र 12 व 13.
16. एच.कृष्णा शास्त्री, साउथ इण्डियन इमेजेज ऑफ गाउस एण्ड गाड़ेसेज (मद्रास, 1916) चित्र 145.
17. संग्रहालय सं. 73.22.
18. जोशी, 1979 संग्रहालय सं.एच–74.

□□

"संग्रहालय : राष्ट्रीय एक्य का उन्नायक"

मानव सभ्यता में शक्ति स्वरूपा मातृदेवी एवम् मेषमुखी मातृकाओं सहित शिव प्रतिमा

रमाशंकर*

विश्व की प्राचीनतम् सभ्यताओं में शक्ति–उपासना का सर्वोच्च स्थान रहा है। इसका मुख्य भाव मानव–जीवन में माता के रूप में, उत्पादन तथा संवर्धन के निमित्त सदा आवश्यक रही है। विश्व के विभिन्न उत्खननों एवं सर्वेक्षण द्वारा स्त्री–प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं, जिन्हें विद्वानों ने शक्ति स्वरूप आदि माता अथवा मातृदेवी माना है। अतएव इस प्रकार की प्रतिमाएं ईरान, मेसोपोटामिया, सीरिया, पलेस्टाइन, क्रीट बाल्कन–देश तथा मिश्र आदि विभिन्न देशों से प्राप्त हुई है। भारत में भी विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त सैन्धव कालीन सभ्यता में मातृदेवी प्रतिमाएं प्राप्त हुई है। इन साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शक्ति की उपासना सिन्धु घाटी से लेकर नीलघाटी तथा उसके आगे तक फैली हुई थी। विद्वानों के मतानुसार लगभग 4000 ई.पू. से तीसरी शताब्दी ई.पू. तक एक विशेष प्रकार की मातृदेवी प्रतिमाएं मिलती है। भारत में लगभग 4000 ई.पू. से तीसरी शताब्दी ई.पू. तक की प्राप्त मातृदेवी–प्रतिमाओं में एक भिन्न प्रकार की विशेषताएं हैं। कालान्तर में नवीन परिवर्तनों के समावेश होने के फलस्वरूप प्रतिमाओं के आकार में सुडौलता एवं सुन्दरता परिलक्षित होने लगी। परन्तु प्रारम्भिक काल की मृण्य–मातृदेवी प्रतिमाओं में निम्नवत् कतिपय विशेषताएं परिलक्षित होती है :–

मेषमुखी मातृकाओं सहित शिव प्रतिमा लगभग लम्बाई 39×91 चौड़ाई से.मी., सहसरा, पंजाब लगभग नौवी शताब्दी ई.

1. पूर्णतया नग्नावस्था।
2. विशेषकर जननेन्द्रिय का प्रदर्शन।
3. पीन पयोधरों का अंकन।
4. योनि–भाग के ऊपरी भाग में अलंकृत मेखला का अंकन।
5. पैरों (चरणों) के नीचे विकसित कमल–दल का अंकन।
6. इन प्रतिमाओं में दोनों हाथों की स्थिति इस प्रकार प्राप्त होती है कि, दोनों हाथ या तो ऊपर की ओर उठे हुये हैं अथवा अन्दर की ओर घूमकर दोनों पीन पयोधरों को ग्रहण करते हुए निर्मित है। कभी–कभी यह हाथ पृथ्वी की ओर समानान्तर फैले हुये हैं या पृथ्वी की ओर झुके हुए लटकते रहते हैं।

---

*पूर्व उप निदेशक, उ.प्र. संस्कृति विभाग, जवाहर भवन, लखनऊ

7. कतिपय मातृदेवियों के गोद में शिशु का भी अंकन है।

इन प्राचीन मातृदेवी प्रतिमाओं का यदि विश्लेषण किया जाय तो, शक्ति उपासना के तीन मुख्य–स्वरूपों के दर्शन होते हैं :–

1. नग्न व सम्पूर्ण मानव स्वरूप में खड़ी प्रतिमाएं।

2. शिशु सहित नग्न प्रतिमाएं।

3. सम्पूर्ण मानव स्वरूप नग्न खड़ी किन्तु पक्षी अथवा पशु–मुख मातृ–प्रतिमाएं।

सैन्धव काल के उपरान्त वैदिक काल में भी देव माताओं का वैदिक साहित्य में भी उल्लेख है यथाः अदिति, पृथ्वी, श्री, ऊष, यमी आदि देवियाँ। बाज सनेही संहिता तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में रूद्र की भगनी के रूप में अम्बिका का उल्लेख है।[1] परन्तु तैत्तिरीय आरण्यक में अम्बिका को रूद्र की पत्नी कहा गया है।[2] मुण्डकोपनिषद में अग्नि की सात जिह्वाओं के रूप में काली तथा कराली का उल्लेख किया गया है।[3] केनोपनिषद में रूद्र की पत्नी के रूप में उमान्हेमवती का नाम आया है।[4] उत्तर वैदिक कालीन ग्रन्थों में सांख्यायन तथा हिरण्यकेशी गृहयसूत्र एवं तैत्तिरीय आरण्यक में भद्रकाली, भवानी दुर्गा आदि देवियों के नाम प्राप्त होते हैं।[5] रामायण काल में भी प्राचीन काल से चली आ रही शक्ति–पूजन की परम्परा प्रचलित थी, इस सन्दर्भ में देवी निकुम्बला तथा सीता द्वारा गौरी–पूजन का विवरण उल्लेखनीय है। परन्तु महाभारत में विराट, भीष्म, वन आदि पर्वों में अनेक साक्ष्य प्राप्त होते हैं। कालान्तर में पाणिनी के अष्टध्यायी में शर्वाणी, रूद्राणी, मृदाणी तथा भवानी आदि नामों का उल्लेख प्राप्त होता है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में दुर्गनिवेश नामक अध्याय में देवी मदिरा के मंदिर निर्माण का उल्लेख आया है।[6]

कालान्तर में शक शासक अझेस तथा माउस की मुद्राओं पर कतिपय देवियों का अंकन प्राप्त हुआ है जिसकी पहचान नहीं हो सकी है। कुषाण कालीन मुद्राओं पर नाना अथवा ननैया तथा आरडोक्सो आदि देवियों का अंकन मिलता है। हुविष्क की एक मुद्रा पर शिव के साथ नाना का अंकन मिला है। विभिन्न क्षेत्रों एवं विशेषतयः बृजभूमि से कुषाण कालीन अनेक एकल आसनस्थ पशुमुख शिशु सहित मातृ देवियों की प्रतिमाएं प्राप्त हुयी हैं, जो निम्नवत् हैं :–

1. अजमुखी देवी (म.सं.सं.ई.–2, ई.–3)
2. दो बैठी हुई मातृदेवी, एक मानवमुखी तथा दूसरी पशुमुखी (म.सं.सं.–15 929)
3. तीन मातृ देवियाँ–प्रथम किंचित (खण्डित) दूसरी तथा तीसरी वराह एवं सिंहमुखी (म.सं.सं. –15.1002)
4. पशुमुखी चार मातृकाएं (म.सं.सं.ई.–34.2491)
5. कार्तिकेय के साथ व्याघ्रमुखी मातृका (ल.सं.स.ओ. 250)
6. सोख मथुरा से प्राप्त कांस्य प्रतिमा जिसमें देव खड़े हुए हैं तथा उनके साथ बांयी ओर व्याघ्रमुखी मातृदेवी खड़ी हैं।[7]

भारतीय विचारधारा के शिव–शक्ति के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति हुई। इसकी विशद

व्याख्या एवं विवरण लिंग पुराण में प्राप्त होता है।[8] तथा कूर्म पुराण में शिव का एक नाम 'बीजी' है।[9] अतएव शिव के साथ शक्ति का अंकन करना स्वाभाविक है। ये शक्तियाँ किसी भी रूप में हो सकती हैं। मातृकाएं भी शक्ति स्वरूप की द्योतक है। भविष्य पुराण के ब्राह्मपर्व में इनके नाम इस प्रकार वर्णित हैं– आकाश मातृकाएं, लोक मातृकाएं तथा अन्य लोक मातृकाएं, भूत मातृकाएं, अन्य पितृ–मातृकाएं, वृद्ध–श्राद्धों में जिनकी पूजा होती है, वे पितृ मातृकाएं, माता, प्रमाता, वृद्ध प्रमाता है।[10] राज्य संग्रहालय में संग्रहित मेषमुखी मातृकाओं सहित शिव प्रतिमा संख्या–सं.सं.एच–33 (चित्र संख्या–1) के संदर्भ में प्रथमतः कार्तिकेय के जन्म से संबंधित कथाओं एवं प्रतिमाओं का विश्लेषण करना होगा। इस विषय में महाभारत के शल्यपर्व[11] तथा वनपर्व[12] अनुशासन पर्व[13] आदि में कार्तिकेय के जन्म से संबंधित कथाएं प्राप्त होती हैं जो इस प्रतिमा निर्माण के संदर्भ में एक सार्थक तथ्य प्रस्तुत करती है, जो निम्नवत् है :–

1. राज्य संग्रहालय, लखनऊ में अवस्थित–प्रतिमा (ल.सं.सं.–ओ. 250) इस प्रतिमा में कार्तिकेय के साथ दाहिनी ओर अलंकरण सहित घट का अंकन तथा बाईं ओर बैठी हुई व्याघ्रमुखी माता का अंकन जो कार्तिकेय के जन्म प्रसंग से जुड़ी हुई तथा स्वर्णकुण्ड का प्रतिनिधित्व करती है।
2. महाभारत में वर्णित क्रूरमुखी मातृदेवी जिन्होंने कार्तिकेय को पुत्रवत् माना था तथा हरिवंश के अनुसार कृष्ण–वाणासुर युद्ध में कार्तिकेय को कोटवती देवी ने बचाया था।
3. महाभारत के अनुसार (वनपर्व 228.12, पृष्ठ 1600) कार्तिकेय की (पूजा–अर्चना) पुरुषाकृति सहित मातृकाओं के साथ 'वीराष्टक' तथा (वीर–नवक) के रूप में की जाती है।
4. महाभारत के (वनपर्व 228.13–[14], पृष्ठ–1600) के कथानुसार अंकित मेढ़े का मस्तक जो कार्तिकेय के छठे अथवा सर्वश्रेष्ठ सिर का द्योतक है अथवा वह उनका खिलौना है जो अग्नि ने अपने पुत्र के मनोरंजन के लिए दिया था अथवा नेगमेय नाम से स्वयम् मेष का रूप धारण किया था।
5. कार्तिकेय के जन्म के पश्चात् छः कृतिकाओं द्वारा पालन पोषण करना।

राज्य संग्रहालय की इस प्रतिमा (शिलापट्ट) में दाहिनी से प्रारम्भ में मेषमुखी वज्रासन में बैठी हुई देवी जिनके बांयी जंघा पर (बांये हाथ) गोद में बैठा हुआ शिशु जिसका बांया हाथ देवी के तीन पयोधर पर अवस्थित है देवी के दाहिने पैर के नीचे पशु (वृषभ) बैठा है जिसका मुख (प्रतिमा के) दाहिने ओर है। देवी के सिर पर करण्ड मुकुट, गले में माला, करधनि, काछदार धोती, यज्ञोपवीत आदि का अंकन है। देवी का दाहिना हाथ खण्डित है। इसी क्रम में दूसरे स्थान पर समान स्वरूप देवी का अंकन है। इन दो देवियों के अंकन के पश्चात् तीसरे स्थान पर वज्रासन मुद्रा में कमलासान पर बैठे हुये चतुर्भुजी शिव बैठे हैं जिनकी दाहिना प्रथम भुजा (खण्डित) जंघा पर अवस्थिति है तथा दूसरी भुजा ऊपर की ओर (खण्डित) उठी है। बायीं प्रथम भुजा में पात्र (खप्पर) लिये जंघा पर अवस्थित है तथा दूसरी भुजा ऊपर की ओर उठी हुयी पुष्प धारण किये है, गले में हार, यज्ञोपवीत, कानों में कुण्डल आदि से युक्त है। सिर पर जटा मुकुट धारण किये है। पीठिका के नीचे अपस्मार पुरुष का अंकन है। शिव के ठीक बाईं ओर पीठिका पर ब्रजासन मुद्रा में बैठी हुई मेषमुखी, देवी जो

करण्ड मुकुट धारण किये हुये हैं जिनके दाहिने हाथ में सम्भवतः श्रीफल/विजोरा है तथा बाएं हाथ के सहारे बैठा हुआ शिशु है जिसका बांया हाथ देवी के पीन पयोधर पर अवस्थित है। देवी के गले में माला, केयूर, यज्ञोपवीत, कटि में करधनि सहित काँछदार धोती आदि से युक्त है। पीठिका के नीचे पशु (वृषभ) बैठा हुआ है जिसका कि मुख (प्रतिमा के) बाईं ओर है। इसी प्रकार इस देवी के बांयी ओर समान रूप में तीन अन्य देवियों का अंकन है। देव के दाहिने ओर दो मेष मुखी देवी तथा बांयी ओर चार मेष मुखी देवियों का अंकन इस प्रतिमा की संरचना में मुख रूप से कार्तिकेय के जन्म से संबंधित कथाओं की पृष्ठभूमि निहित है। पौराणिक एवं साहित्यों में वर्णित कथानुसार राक्षस–तारकासुर का वध शिव पुत्र द्वारा सम्भव था। इस परिप्रेक्ष्य में कथानुसार देवी के सती हो जाने के उपरान्त शिव हिमालय पर जाकर योग अथवा ध्यान में लीन हो गये। इधर सती ने पर्वतराज हिमवान के यहाँ पुनः जन्म लिया, तदोपरान्त शिव मिलन की अभिलाषा में आराधना करने लगी। असुर तारकासुर वध शिव द्वारा उत्पन्न पुत्र के द्वारा सम्भव था यद्यपि शिव ध्यान योग में लीन थे अतएव ध्यान भंग करने के निमित्त कामदेव को भेजा गया और कामदेव ने मोहित करने हेतु कामबाण संधान तो किया परन्तु स्वयं शिव द्वारा तीसरा नेत्र खोलने के फलस्वरूप भस्म हो गये परन्तु शिव काम आहत हो गये और कालान्तर में पार्वती–शिव का पाणिग्रहण संस्कार हो गया। तदोपरान्त शिव–पार्वती एकान्तरत थे कि कबूतर रूप में अग्नि का प्रवेश हुआ जिससे पार्वती लज्जायुक्त हो पृथक हो गयी तथा शिव का वीर्यपात भूमि पर हो गया जिसके फलस्वरूप कुपित हो देवी पार्वती ने अग्नि को ग्रहण करने हेतु निर्देश दिये जिस पर अग्नि ने शिव वीर्य को ग्रहण किया परन्तु अग्नि पेट में सहस्रों सूर्य पिण्ड के समान ज्वाला उत्पन्न हो गयी, सहन न होने पर अग्नि ने उसे गंगा में त्याग दिया, गंगा को भी सहन न होने के कारण सरवन कुण्ड में डाल दिया जिससे कार्तिकेय का जन्म हुआ तथा कार्तिकेय के जन्म होने पर छः कृतिकाओं द्वारा उनका पालन पोषण किया गया। महाभारत के कथानुसार अंकित मेढ़े का मस्तक कार्तिकेय के छठे सर्वश्रेष्ठ सिर का द्योतक है। इन साक्ष्य पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान दिया जाय तो मेषमुख व कार्तिकेय का संबंध अत्यन्त नैकट्य है तथा कार्तिकेय के जन्म के संबंध में उन्हें कृतिका पुत्र भी कहा गया है। समस्त साक्ष्य सामग्रियों के अतिरिक्त इस प्रतिमा निर्माण में सबसे स्पष्ट साक्ष्य स्वरूप भविष्य पुराण के ब्रह्मपर्व[15] में वर्णित निम्नलिखित श्लोक निहित है।

अबलो बालरूपेण खट्टाङ्.गशिखिवाहनः। पूर्वेण वदनः श्रीमांस्त्रिशिखः शक्तिसंयुतः।।
कृत्तिकायाश्च रुद्रस्य चाङ्.गोद्गूतः सुरार्चितः। कार्तिकेयो महातेजा आदित्यवरदर्पितः।
शान्तिं करोतु ते नित्यं बलं सौख्यं च तेजसा।।

भविष्य पुराण, ब्रह्मपर्व–176, 1–48

अर्थात् बालरूप सुकोमल खट्वंगा शिखि (मयूर) वाहन, तृवेणी एवं शक्ति से युक्त। कृतिकाओं और रूद्र के अंगों से उद्भूतित व समस्त देवताओं द्वारा अर्चित तथा आदित्य से वर प्राप्त कार्तिकेय अपने तेज से शान्ति, बल, सुख एवम् तेज प्रदान करें।

अतएव इस प्रतिमा में चतुर्भुजी रूद्र (शिव) सहित वज्रासन मुद्रा में बैठी हुई छः मेषमुखी मातृकाएं जो अपने बांयी ओर की हथेली के सहारे बैठे हुए सुकोमल शिशुओं को गोद में लिये हुए

हैं एवं समस्त के पीठिका के पाद भाग में बैठे हुए वृषभों (गायों) का अंकन है।

उपर्युक्त वर्णित श्लोक एवम् प्रतिमा विवरण के आधार पर सुस्पष्ट होता है कि ये छः मेषमुखी मातृकाएं जो शक्ति स्वरूपा, कृतिकाएं तथा उनके साथ चतुर्भुजी रूद्र (शिव) हैं जिनके अंगों से उद्भूतित सुकोमल बाल स्वरूप कार्तिकेय है। मेरे मतानुसार इस प्रतिमा की पहचान ''बालरूप कार्तिकेय एवम् कृतिकाओं सहित रूद्र'' अथवा ''कृतिकाओं सहित रूद'' करना अधिक सुसंगत युक्त होगा।

संदर्भ

1. वाजसनेयी संहिता, 111.57 व तैत्तिरीय ब्राह्मण– 1,6.10.4–5
2. तैत्तिरीय आरण्क, X.18
3. मुण्डकोपनिषद, 1,2.4 तथा जितेन्द्र नाथ बनर्जी, द डेवलपमेंट ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृ.–491
4. केनोपनिषद III, 25.
5. पी.वी. काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, वाल्यूम II, भाग–2, पृ.–738
6. आर.एम. शास्त्री अनुवाद (द्वितीय संस्करण) अर्थशास्त्र, पृ. 59
7. एन.पी.जोशी, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृ.–128
8. लिंगपुराण, पूर्व, 20.73–74, पृ.–51
9. कर्मपुराण, 8.8, पृ.–215
10. कल्याण, संक्षिप्त भविष्य पुराणांक वर्ष–66, संख्या–1
11. शल्यपर्व, 46.3–30 पृ.–4260–4261
12. वनपर्व–224–32, पृ. 1588–1618
13. अनुशासन पर्व– 86.33, पृ.–5742
14. महाभारत वनपर्व, 228.13–14, पृ.–1600
15. भविष्यपुराण, ब्राह्मपर्व, 176. 1–48

□□

“संग्रहालय : अतीत का माध्यम - भविष्य का शिक्षक”

भारतीय मूर्तिकला

डॉ. ए.के. पाण्डेय*

भारत की ऐतिहासिक परम्परा में मूर्तिकला सम्पदा की महत्वपूर्ण भूमिका है। हमने यहां के धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन को सतत् प्रभावित किया है। प्रतिमाओं के निर्माण का सम्बन्ध बहुत कुछ उपासना–पद्धति से जुड़ा हुआ है। भक्त ने अपने आराध्य की झाँकी उस गढ़ी हुई प्रतिमा में देखी और अपनी अनेक श्रद्धाभिभूत प्रकल्पनाओं को उसी स्वरूप में समाहित पाया। यही नहीं मानव ने अपनी कलाप्रियता की भावना को धर्मनिरपेक्ष प्रतिमाओं के माध्यम से मूर्तरूप प्रदान किया। इस कला का सहस्राब्दियों पुराना इतिहास है और इसका अध्ययन विभिन्न सोपानों के परिपेक्ष्य में किया जाना चाहिए।

प्रतिमाएँ मात्र धार्मिक परिस्थितियों का ही आभास नहीं देतीं प्रत्युत उनसे तत्कालीन सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन की झाँकी भी देखने को मिलती है। जिस देश, काल और परिस्थितियों में उन्हें मूर्त रूप दिया जाता है, उसका प्रभाव इन प्रतिमाओं पर पड़ता है। किसी काल का सांस्कृतिक इतिहास जानने के लिये तत्कालीन मूर्तिकला का अध्ययन आवश्यक है। जब हम देखते हैं कि किसी काल विशेष में किसी देवी या देवता की मूर्तियां विपुल संख्या में बनी तो निश्चय ही इस अनुमान को बल मिलता है कि उस समय उस देव विशेष की पर्याप्त लोकप्रियता स्थिर हो चुकी थी। तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर भी इन मूर्तियों से प्रकाश पड़ता है। मथुरा संग्रहालय के एक अभिलिखित कुषाणकालीन आर्यभट्ट[1] से ज्ञात होता है कि लवण शोभिका नामक गणिका की जैन धर्म में आस्था थी और उसने सार्वजनिक हित में अनेक कार्य किये थे। मूर्तियों के परिधानों, अलंकारों, मण्डनों आदि से इस बात का संकेत मिलता है कि तत्कालीन समाज में वे रुचिकर हो। वृहत्संहिता इसबात का निर्देश देता है कि मूर्तियों के आभूषण, वेश तथा अंलकार देशानुरुप हों।

प्रतिमाएं तत्कालीन कला का प्रतिनिधित्व करती हैं। उस समय मूर्तिकला के प्रति जनसामान्य में कितना रुझान था, यह अनुमान मूर्तियों की संख्या, उनके आकार–प्रकार आदि से लगाया जा सकता है। उन पर उत्कीर्ण लेखों में कलाकारों तथा दाताओं के नाम भी मिलते हैं। कभी–कभी मूर्ति लेखों से ऐसी महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है जिससे राजनैतिक इतिहास पर भी उल्लेखनीय प्रकाश पड़ता है।

यह स्वाभाविक ही प्रश्न उठता है कि मूर्ति पूजा कब से प्रारम्भ हुई और इसे प्रारम्भ करने वाले कौन थे यह अत्यन्त विवादग्रस्त विषय है। तर्क–वितर्कों की गहराई में न जाकर हम यहाँ उसकी संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

अर्वा, प्रतिकृति, प्रतिमा, विश्व आदि शब्द मूर्तिबोधक हैं और इनका प्रयोग भी इसी अर्थ में विभिन्न प्रतिमा ग्रन्थों में हुआ है। ऋग्वेद में प्रतिमा शब्द आता है पर वह देवताओं की उपास्य प्रतिमा

***निदेशक, राजकीय संग्रहालय, झाँसी**

का अर्थपरक नहीं है। कुछ पाश्चात्य विद्वान जैसे मैक्समूलर, एच.एच. विल्सन तथा मैक्डोबिल आदि यह मानने के लिये तैयार नहीं हैं कि वैदिक युग में मूर्ति पूजा प्रचलित थी। विद्वानों के एक दूसरे वर्ग ने इसके प्रतिरोध में अनेक तर्क दिये हैं। उनका मत है कि उस समय मूर्तिपूजा अच्छी तरह प्रचलित थी। इसकी पुष्टि के लिए वेदों की अनेक ऋचाओं के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। पूर्व वैदिक काल में मूर्तिपूजा प्रचलन की संपुष्टि हेतु ऋग्वेद की एक महत्वपूर्ण ऋचा का उदाहरण प्रायः दिया जाता है। यह इस प्रकार हैं–

क इमं दशभिर्गमेन्द्रं क्रीणाति धेबुभिः।
यदा वृत्राणि जाम्पतदथैवं में पुर्नददत।।

(इस मेरे इन्द्र को दस गायों में कौन खरीदेगा। जब वह अपने शत्रुओं को समाप्त कर चुकेगा तो वह मुझे वापस लौटा देगा)

उपर्युक्त ऋचा का अर्थ वैंकटेश्वर ने यह लगाया कि इन्द्र की स्थायी मूर्तियां बनाई जाती थीं और कुछ विशेष अवसरों पर किराये पर उठायी जाती थीं। ऋग्वेद की एक और ऋचा में आता है कि **'इन्द्राग्नि शुष्मता बरः'** अर्थात् इन्द्र और अग्नि को सजाया जाता था।[2] वैंकेटेश्वर ने ऋग्वेद के कुछ अंशों से यह अनुमान लगाया है कि उस समय मन्दिर (देवगृह) भी थे। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे वर्णन हैं जिनसे इस बात का आभास मिलता है कि उस समय इन्द्र, अग्नि, रुद्र, मरूत आदि देवों की प्रतिमाएँ बनती थीं और नियमित मूर्तिपूजा प्रचलित थी।

रामायण और महाभारत में प्रतिमा बनाने के स्पष्ट उल्लेख हैं पर ये उपासना के निमित्त भी थीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। राम के अश्वमेघ यज्ञ के अवसर पर सीता की स्वर्ण प्रतिमा निर्मित की गयी थी। महाभारत के विवरण के अनुसार धृतराष्ट्र ने भीम की लौह मूर्ति (जायसी प्रतिमा) को चूर–चूर कर दिया था।

मूर्तिपूजा की प्राचीनता पर यदि हम पुरातत्व की दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होता है कि सिन्धुघाटी के उत्खनन से प्राप्त कुछ प्रस्तर खण्डों को मार्शल ने लिडयोनि मानकर सम्प्रदाय से सम्बद्ध किया है। सील पर पशुओं से आवृत्त पुरुषाकृति को शिव–पशुपति स्वीकार करने की चेष्टा की गयी है। आर.पी. चन्दा ने स्वीकार किया है कि सिन्धुघाटी के उत्खनन से योगमुद्रा में स्थित मानव तथा मानवेतर आकृतियों की उपासना पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। मेके के विचार से भी लोग घरों में मातृदेवियों की मूर्तियां रखते थे। मानवाकृति जैसे कुछ ताम्र अवशेषों को भी सम्प्रदाय की वस्तु माना गया है। मौर्य काल की अनेक यक्ष यक्षणियों की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। शुंगकाल से नियमित रुप से साम्प्रदायिक देवों की प्रतिमाएँ मिलने लगती हैं।

समय समय पर विभिन्न देवी–देवताओं की प्रतिमाएँ बनी और इस क्षेत्र में अभिनव प्रयोग किए गए। प्रतिभा विज्ञान की दृष्टि से कालक्रमानुसार हुए विकास की संक्षिप्त विवेचना यहाँ प्रासंगिक होगी।

शुंगकाल में सूर्य, गजलक्ष्मी, शिवलिंग, बलराम तथा वृष्णिवीरों की मूर्तियां बनने लगी थीं। बोधगया और भाजा में सूर्य का अंकन भारतीय परिवेश में हुआ है। गजलक्ष्मी को साँची तथा भरहुत की कला में स्थान मिला है। मथुरा कला के अन्तर्गत बलराम तथा कृष्ण वीरों की प्रतिमाएं निर्मित की गयीं। शिव की उपासना प्रतीक स्वरूप शिव लिंगो के माध्यम से प्रारम्भ हो चुकी थी। कामदेव की अनेक प्रस्तर प्रतिमाएँ तथा मृण्मूर्तियां मथुरा और उसके पार्श्ववर्ती क्षेत्र से प्राप्त हुई हैं।

कुषाणकाल से अनेक देवी–देवताओं की मूर्तियां बनायी जाने लगीं। शिव को दोनों स्वरूप लिंग–विग्रह तथा पुरुष–विग्रह में अंकित किया जाने लगा। इस काल में शिव, पार्वती तथा अर्द्धनारीश्वर प्रतिमाएं भी मिली हैं। विष्णु की सामान्य मूर्तियों के अतिरिक्त कुछ अवतार प्रतिमाएं भी बनने लगीं थीं। अब सूर्य को उदीच्य वेष में परिवेन्दित किया गया। कार्तिकेय की कई मूर्तियां मथुरा से प्राप्त हुई हैं। लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, सप्तमातृका आदि देवी प्रतिमाओं को भी निर्मित किया जाने लगा। इस काल की ब्रह्मा, इन्द्र, कुबेर, अग्नि, आदि अनेक देवताओं की मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं।

इस युग में मूर्तियों को साधारण मानव की भांति प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है। प्रायः अनेक देवों के एक सिर तथा दो भुजाएं हैं। अधिकांश देव आकृतियों में उनका दाहिना हाथ अभय मुद्रा में देवत्व का प्रतीक स्वरूप उठा हुआ है। बांया हाथ कटिहस्त मुद्रा में वस्त्र का छोर पकड़े हुए दिखलाया गया है। कभी कभी इस हाथ में देव का एक लांछन रहता है जिससे उसे आसानी से पहचाना जा सकता है। परिवार देवताओं को उकेरने की प्रथा लोकप्रिय नहीं थी। प्रभामण्डल का अंकन भी कम मिलता है। जहां इसका चित्रण है, वह हस्तिनखायुक्त है। वाहनों का अंकन बहुत कम है। जहां वाहन दिखाना आवश्यक समझा गया है, उसे देव के पार्श्व में प्रदर्शित किया गया है। यहां देव प्रायः उस पर आरुढ़ नहीं मिलते। प्रतिमाएं स्थानक और आसन दोनों मुद्राओं में स्थित मिलती हैं।

गुप्तकाल में प्रतिमाओं के निर्माण में कुछ नूतन प्रयोग हुए। अब देव के साथ परिवार देवताओं को स्थान दिया जाने लगा। आयुध–पुरुषों का अंकन प्रारम्भ हुआ। विष्णु के अन्य अवतारों की मूर्तियां गढ़ी जाने लगीं। वैकुण्ठ, विश्वरूप, शेषशायी विष्णु प्रतिमाएं इसी युग की देन हैं। राम और कृष्ण की लीला–कथाओं को शिल्प में उतारा गया। गंगा यमुना का अंकन इस युग में बहुत लोकप्रिय था। द्वार स्तम्भों पर इनकी सुन्दर आकृतियां उकेरी जाती थीं। इस युग में नवग्रह, दण्ड–पिंडल, गणपति की मूर्तियों का नियमित शुभारम्भ हो गया। शिव के अनेक स्वरूपों को मूर्तरूप दिया गया।

इस काल की अधिकांश मूर्तियों को चतुर्भुजी दिखा जाने लगा। प्रभामण्डल का अंकन प्रायः किया गया है। अब हस्तिनख के अतिरिक्त उसमें अनेकानेक अलंकरण भी सम्मिलित किये गए। कुछ मूर्तियों में अलंकृत प्रभामण्डल न होकर सादा है। आकृति के पूरे पृष्ठांकन में नीचे से ऊपर तक पूर्ण प्रभामण्डल बनाने की परम्परा भी थी। पर इसका प्रयोग प्रायः बुद्ध मूर्तियों तक सीमित रहा। प्रभामण्डल के ऊपर कहीं कहीं विद्याधर भी विहार करते हुए

दिखलाए गए हैं। अनेक हिन्दू देवताओं के साथ किसी पक्षी अथवा पशु को उसके वाहन रूप में सम्बद्ध किया गया है जैसे ब्रह्मा के साथ हंस, शिव के साथ वृषभ, विष्णु के साथ गरुड़, इन्द्र के साथ गज आदि। इन वाहनों के आधार पर इन देवताओं की पहचान सहज रूप में की जा सकती है।[2]

पूर्वमध्यकाल में प्रतिमाओं का वैविध्य देखने को मिलता है। मूर्तिविज्ञान के क्षेत्र में इस युग में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। अनेक सम्प्रदायों तथा उपसम्प्रदायों का महत्व बढ़ गया। देवों के साथ अनेक देवताओं, गणों तथा अनुचरों को दिखाया जाने लगा। देवों के इस काल की अधिकांश मूर्तियों में अंकन की एक निश्चित प्रणाली हो गयी थी। इसके अनुसार पटिया के मध्य में प्रधान मूर्ति (श्रीमूर्ति) अंकित है। उसके आस–पास परिवार देवताओं को प्रदर्शित किया गया है। पटिया के मध्यीय किन्नरों पर गजशार्दूल तथा उसके ऊपर मकरी जैसे कला अभिप्राय उकेरे जाते थे। इसके पश्चात् मयूरक अथवा किन्नर वाड्ययंत्रों से क्रीड़ा एवं नृत्य करते हुए प्रदर्शित है। कुछ मूर्तियों में तीन रथिकाएं बनी रहती हैं, जिनमें ब्रह्मत्रयी (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) का अंकन मिलता है। प्रभामण्डल के दोनों ओर मालाधारी विद्याघरों को अंकित करने की परम्परा थी। ये कभी–कभी मध्य में स्थित मुकुट, पूजापात्र आदि वस्तुओं में हाथ का सहारा लगाते हुए भी चित्रित हैं। इनके पृष्ठांकन में प्रायः लहराते हुए बादल दिखाए गए हैं।[3] इनके मध्य विहार करते हुए विद्याधर कभी कभी सपत्नीक माला तथा खड्ग लिये हुए प्रदर्शित हैं। इसकी पुष्टि अनेक साहित्यिक संदर्भों से भी होती है।[4] पटिया का ऊपरी भाग तोरण बेमिकाकार होता है जिसके ऊपरी भाग में कीर्तिमुख का चित्रण रहता है। सबसे ऊपरी भाग को श्रृंग कहते हैं।[5] पीठिका पर उपासकों तथा मूर्तिदाताओं को अंकित करने की परम्परा रुढ़िगत हो गयी थी। पीठिका पर अनेक प्रकार के अलंकरण भी मिलते हैं।

देव का एक हाथ अभय अथवा वरद मुद्रा में मिलता है। अभय सम्मुख दर्शन में चित्रित रहता है। उपदेवताओं, गणों तथा अनुचरों को भी कभी कभी अभयमुद्रा में स्थित दिखाया गया है। वरद मुद्रा की स्थिति में हथेली कभी–कभी पद्मांकित रहती है अथवा अगूंठे से सम्बद्ध माला दिखायी गयी है।

इस काल में देव तथा देवियों के अनेक भुजाएं तथा बहुसिर दिखाने की परम्परा चल पड़ी। तंत्रवाद का प्रभाव इस युग में बढ़ चुका था। इससे तत्कालीन मूर्तिकला का प्रभावित होना स्वाभाविक था। शक्ति धर्म का प्रभाव बढ़ने के कारण देवी मूर्तियों के निर्माण में विविधता आयी। देवों के साथ उसकी शक्ति को सम्बद्ध करके आलिंगन मूर्तियां प्रस्तुत की गयीं। इस युग में अनेक प्रकार की संहार मूर्तियों का निर्माण भी हुआ।

समन्वय की भावना का प्रादुर्भाव यद्यपि बहुत पहले हो चुका था पर मध्यकाल में विपुल प्रतिमाओं के माध्यम से विहंगम रुप देखने को मिलता है। अब न केवल ब्राह्मण धर्म के देवों की समन्वित प्रतिमाओं का निर्माण हुआ अपितु बौद्धों ने भी हिन्दू देवताओं के साथ समन्वित आकृतियां बनाना प्रारम्भ कर दिया। बौद्धों तथा जैनों ने अनेक ब्राह्मण देवताओं को अपने सम्प्रदायों के अन्तर्गत स्वीकार किया। इनकी प्रत्यारूप–प्रतिमाएं भी निर्मित की गयीं।

अलंकार, वस्त्र, मुद्राएं सभी विशेषताएं समय–समय पर परिवर्तित होती रहीं। तिथिक्रमीय भिन्नताओं के अतिरिक्त भौगोलिक कारण भी इन परिवर्तनों में पर्याप्त सीमा तक सहायक सिद्ध हुए हैं। एक ही समय में भारत के विभिन्न स्थानों पर विभिन्न प्रकार की मूर्तिकला के दर्शन होते हैं। मध्यकालीन विष्णु मूर्तियों में उत्तर भारत के अंकनों में देव के पार्श्व में लक्ष्मी और गरुड़ का अंकन मिलता है। पूर्वी भारत में लक्ष्मी और सरस्वती का चित्रण है। यहां गरुड़ को पीठिका पर नीचे प्रदर्शित किया जाने लगा। दक्षिण भारत में विष्णु के साथ लक्ष्मी तथा भूदेवी को दिखाने की सशक्त परम्परा थी। उत्तर भारत में शिव के साथ सर्प तथा त्रिशूल मिलता है जब कि दक्षिण भारत में उनके हाथों में परशु तथा मृग का अंकन है। इसी तरह बहुत सी प्रतिमागत क्षेत्रीय भिन्नताएं देखने को मिलती हैं।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भारतीय प्रतिमाओं के परिशीलन हेतु यह आवश्यक है कि विकास के विभिन्न सोपानों का पृथक् अध्ययन किया जाय। प्रत्येक युवा की कुछ अपनी विशेषताएं रही हैं। पूर्व मध्यकाल की कला को समझने के लिए भी इसकी पृष्ठभूमि का ज्ञान अपेक्षित है। यहाँ पर मूर्तिकला की दृष्टि से हुए परिवर्तनों की संक्षिप्त विवेचना की जायेगी।

सिन्धु उत्खनन से प्राप्त मूर्तियों के पश्चात् सर्वप्रथम यक्ष प्रतिमाएं मिलती हैं। इन्हें मौर्यकालीन लोककला की कृतियां स्वीकार किया गया है। ये यक्ष मूर्तियां विशाल परिमाण (महाकाय, महाप्रमाण) की हैं। स्वतंत्र रूप से गढ़ी हुई इन मूर्तियों में चतुर्मुख दर्शन की सुविधा है। उनके भारी भरकम अलंकरण हैं। यही यक्ष प्रतिमाएं उत्तरकालीन देव प्रतिमाओं के निर्माण का आधार प्रस्तुत करती है।

शुंगकालीन कला में आकृतियां प्रायः चपटी हैं और उनमें त्रिपार्श्वात्मक प्रभाव नहीं है। पुरुष मूर्तियों के सिर पर एक विशेष प्रकार की पगड़ी मिलती है और स्त्रियों का केश श्रृंगार अनेक प्रकार के आभूषणों तथा पुष्पमालाओं आदि से सुसज्जित है। अलंकारों का बाहुल्य है। वस्त्रों के अंकन में भारीपन अनुभव होता है। मुखाकृतियों पर हाव–भाव इतने प्रभावोत्पादक नहीं है जो कालान्तर में बन पड़े। आंखों की पुतलियां यहाँ प्रदर्शित नहीं की गयी हैं। इस युग में कलाकार शरीर विन्यास का सही आंकलन न कर सके और इसी कारण शुंग प्रतिमाओं में विभिन्न अवयवों का उपयुक्त संतुलन न बन सका।

कुषाणकाल में आकृतियों की स्थूलता में कमी आ गयी और अपेक्षाकृत मूर्तियां सुडौल और सुन्दर बनने लगीं। उनके अंगों का पारस्परिक तालमेल अच्छी प्रकार हुआ है। इस काल की अधिकांश मूर्तियां गोलाई में गढ़ी गयीं हैं। इस प्रकार त्रिपार्श्वात्मक अभाव यहां नहीं खटकता। आकृतियों की आंखें बादाम जैसी हैं। यहाँ हस्तिबखयुक्त प्रभामण्डल है। कुछ मूर्तियों को दोनों ओर उकेरा गया है। पृष्ठांकन में यदाकदा वृक्षादि तथा अलंकरण की अन्य बारीकियां प्रदर्शित की गयीं हैं। कुषाण–गुप्तकाल के संक्रमण काल में दोनों कला शैलियों की कुछ मिली जुली विशेषताएं देखने को मिलती हैं।

गुप्तकाल में बहुमुखी समृद्धि के साथ मूर्तिकला की भी आशातीत प्रगति हुई। इस युग की

मूर्तियां अधिक प्रभावोत्पादक तथा सुन्दर हैं। अब यथार्थ की अपेक्षा आदर्श भावना को मूर्त रुप देना कलाकार का अभीष्ट हो गया। आकृतियों के अंकन में गतिशीलता है। शंख की भांति गरारेदार ग्रीवा, शुक्र चंचु की तरह उन्नात बासिका जैसे अनेक सौंदर्यविधान के मान्य मानदण्डों का प्रयोग कलाकार ने प्रतिमा निर्माण में किया। शरीर की स्थूलता समाप्त हो गयी और उसमें छरहरापन आ गया। प्रायः सामान्य आकृतियों के मुखों पर शान्त भाव प्रदर्शित है। चक्षु अर्द्धमुकलित हैं और उनका आकार कमलवत है। आकृतियों के कर्ण लम्बे हैं। केश–विन्यास की अनेक अलंकरण विधाएं देखने को मिलती हैं। कतिपय देवों के स्कन्धों पर घुघराले बालों की लटें विखरी हुई देखी जा सकती हैं। पारदर्शक वस्त्र–परिधान इस युग की अपनी विशेषता है। कुषाणकाल की अपेक्षा गुप्तकाल में अलंकारों की संख्या कम हो जाती है। एकावली, अंगद, कंकण, नूपुर आदि कुछ चुने हुए आभूषण ही प्रदर्शित किए गए हैं।

गुप्तोत्तर काल में कला की अभिव्यक्ति सामान्यतः पहले जैसी सशक्त नहीं रही। प्रारम्भ में यद्यपि पूर्वयुग की कुछ विशेषताएं यथावत् चलती रही पर कला की दृष्टि से अधिकांश मूर्तियां उस कोटि की सुन्दर नहीं है। डा. सरस्वती के शब्दों में पिछले कलाकारों द्वारा स्थापित आदर्श अपने चरम शिखर पर पहुंच चुके थे और उसकी परिकल्पनाएं अब परिश्रान्त हो चुकी थी। लावाणिक आदर्श ने अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया था। इससे अधिक और परिवर्ती कलाकार कर ही क्या सकते थे। अब कलाशैली में औपचारिकता और कृत्रिमता आ गयी थी। पहले की कला कमनीयता अब जर्जर होने लगी थी। न तो उसमें आध्यात्मिक प्रतिछाया के दर्शन होते हैं और न सौन्दर्यानुभूति ही। भद्दे भारीपन ने रूप पर आवरण चढ़ाया। डा. आनन्द कुमार स्वामी ने पूर्व मध्ययुगीन कला को पारम्परिक तथा मध्यकाल (नवीं शती से बारहवीं शती) की कला को यान्त्रिक कहा है।

कुछ विद्वान गुप्तोत्तर कला को मध्यकालीन मूर्तिकला जैसा नामकरण देना ही भ्रामक समझते हैं। इस शब्द से दो कला अवस्थाओं की मध्य स्थिति का आभास होता है। जब भी हम पूर्वमध्यकाल की कला का आकलन करते हैं तो तुलना के परिपेक्ष्य में गुप्तकालीन मूर्तिकला के कुछ आदर्शों तक ही सीमित रह जाते हैं। हमें पूर्वमध्यकाल की स्वतंत्र गति और व्यापक क्षमता का गहराई से अध्ययन करना चाहिए। यह सही है कि गुप्तकाल के कलाकारों ने लावण्यमयी मूर्ति बनाकर शिल्प कुशलता का परिचय दिया। परन्तु पूर्वमध्यकाल की अनेक ऐसी प्रतिमाएं हैं जो गुप्तकाल की मूर्तियों की तुलना में पीछे नहीं ठहरती। जहाँ बहुत सी मूर्तियों में सौन्दर्यानुभूति पर कलाकार ने अधिक ध्यान नहीं दिया है वहां उसके अन्य महत्वपूर्ण तत्व उजागर हुए हैं। डा. वासुदेवशरंण अग्रवाल के शब्दों में इस युग की कला ने कोमल और सुकुमार भावों को पीछे छोड़ा और वह एक दिग्गज विराट भाव अपनाकर आगे बढ़ी। महत्ता, विशालता और विराट भाव को पाकर कला ने मानो फिर अपने प्राणों की प्राप्ति की।[5] इस काल के कलाकारों ने कितनी ही नूतन उद्‌भावनाएं मूर्तिशिल्प में संजोयी, कितने ही अभिनय प्रयोग किए। इस युग की कला को रुढ़िगत मानने की बात ही एक प्रकार से रुढ़ि बन गयी है। अन्यथा प्रयोगों में जितना वैविध्य, ध्यानों की अनेकता और तत्कालीन परम्पराओं का बहुमुखी विजुम्मण हमें पूर्वमध्यकालीन मूर्ति शिल्प में मिलता है उतना किसी युग में नहीं।

कलामर्मज्ञ डा. कुमारी स्वामी ने एक स्थान पर स्वीकार किया है कि पूर्वमध्यकालीन कला में गुप्तकाल की अपेक्षा अधिक गतिशीलता और व्यापकता है।

हर्ष के पश्चात् उत्तर भारत में राजनैतिक अस्थिरता का वातावरण बना और यह अनैक्य कला के क्षेत्र में भी प्रभावी हुआ। क्षेत्रीय भावना ने लोगों के घर कर लिया। इस भावना के परिणामस्वरूप विभिन्न कलाशैलियों का प्रादुर्भाव हुआ। उत्तर भारत में कन्नौज के आसपास प्रतिहार कलाशैली की प्रतिमाएं गढ़ी गयीं। पहाड़ी उत्तरी क्षेत्र में कत्यूरी कलाशैली का उदय हुआ। मध्यभारत में चन्देलों की कला का व्यापक प्रसार हुआ। परमार कलाशैली की मूर्तियां राजस्थान क्षेत्र से प्राप्त हुई हैं। पूर्वी भारत में पाल तथा सेन राजाओं की छत्रछाया में एक विशिष्ट कलाशैली का विकास हुआ। इसी प्रकार दक्षिण भारत में भी राष्ट्रकूट, होयसाल, चालुक्य, पाण्डेय आदि राजवंशों के अधीन कला शैलियां पनपीं।

प्रतिहार कलाशैली की प्रतिमाओं में गुप्तकाल की अनेक विशेषताएं समाहित हैं। सामान्य तौर पर यह कहा जा सकता है कि इस शैली की प्रतिमाएं मध्यकालीन किसी भी अन्य शैली की कृतियों से अधिक सुन्दर तथा प्रभावोत्पादक हैं। मुख पर स्थित भाव प्रदर्शित हैं। वस्त्र परिधान यद्यपि पारदर्शक नहीं हैं पर उनका अंकन भी प्रभावपूर्ण हुआ है। अलंकारों का प्रयोग कम किया गया है। कन्नौज तथा उसके आसपास से विष्णु, शिव, गणेश, दुर्गा, सूर्य आदि की सुन्दर मूर्तियां मिली हैं। इस कलाकृतियों को देखने से पता चलता है कि तत्कालीन कलाकार न केवल अंगप्रत्यांगों के सुचारु प्रदर्शन में सिद्धहस्त थे, अपितु पृष्ठभूमि–संयोजन, अलंकरण तथा भावाभिव्यक्ति के भी मर्मज्ञ थे।

चन्देल कलाशैली का मूर्तिशिल्प सम्पन्न है। इसकी मूर्तियों की संख्या अन्य मध्यकालीन कलाशैलियों की कृतियों की अपेक्षा अधिक है। इन मूर्तियों की बनावट ऐसी है जैसे कोई वस्तु नीचे से उग रही हो। मुख का रूप अंडे की तरह दीर्घवृत्ताकार और ठोड़ी के पास गोलाई लिए हुए होता है। ओठ की बनावट टुड्डी रेखाओं से की गई है। पार्श्वद्रश्य में नाक उसी सीध में है जहां भी हैं। नाक, भौह और ठोड़ी के नीचे कोणयुक्त बनावट है। सामने से सम्पूर्ण मुखदर्शन पर नासिका छिद्र सामान्यतः ओंठों की लम्बाई तक फैले हैं। आंखें अर्द्धमुकलित, कभी–कभी झुकती हुई लम्बी भौहों के साथ प्रदर्शित हैं। भौहें एक सुन्दर वक्रता के साथ बनी हैं। इनके मध्यीय किनारे नासिका के निकट समाप्त होते हैं पर वे बहुत कम एक दूसरे को छूते हैं। मानव आकृतियों में सिर पर बालों के गुच्छे मध्य में से मुड़े हुए हैं। नाटी आकृतियों में केश इस तरह सुसज्जित हैं जैसे वे टोपी पहने हों। नारी आकृतियां नियमित चुन्नटों के साथ पतला उत्तरीय पहने हैं जो पीछे घूमकर आता है।

परमार कलाशैली की मूर्तियां अधिक गतिशीलता तथा घुमाव आदि की जटिल विधाओं से मुक्त हैं। रूप तथा आकार में ये चन्देली से बहुत कुछ मिलती जुलती हैं। इस कला का सबसे अधिक विकास परमार वंश के राजा भोज के समय में हुआ। इस कला का सबसे अच्छा उदाहरण धार के सरस्वती मन्दिर में स्थापित सरस्वती की मूर्ति हैं। अनेक मूर्तियां माण्डू, धार, उदयपुर आदि स्थानों से प्राप्त हुई हैं।[6]

बंगाल क्षेत्र में पाल राजाओं की उदारूपता से पाल कलाशैली का विकास हुआ। इस शैली की मूर्तियां एक विशिष्ट प्रकार के काले पत्थर में गढ़ी गयीं। आर.पी.चन्दा के अनुसार पाल कलाकृतियों में यद्यपि गुप्तकाल जैसी सौंदर्य और धार्मिक भावना के लक्षण तो नहीं मिलते पर पाल कला शैली अब भी गुप्तकालीन परम्पराओं को अपनाये हुए थी। मानवाकृतियों में गोल आकृति का चेहरा जिसमें दो वक्र आंखें, उन्नत मस्तक, पतले दो होंठ और छोटी ठोंड़ी मिलती है। स्त्रियों के टखनों तक पहुँचती हुई साड़ी तथा पुरुषों को लम्बी धोती तथा उत्तरीय धारण किए प्रदर्शित किया गया है। वस्त्र–परिधान रेखाकृतियों से आभासित किया गया है। प्रारम्भिक पाल मूर्तियों में अलंकरण कम है जो कालान्तर में बढ़ जाता है। पद्म का अंकन बहुत है, आसन के अतिरिक्त उसे अलंकरण के रूप में भी उकेरा गया है। कहीं कहीं लाच्छनों के पृष्ठांकन में उसे सम्बद्ध किया गया है। मूर्तियां दूर से देखने पर धातु निर्मित सी लगती हैं। अधिकांश मूर्तियां पटिया पर उकेरी गयीं हैं। सेन राजाओं के समय में पल्लवित होने वाली कलाशैली इससे पूर्णरुपेण प्रभावित है परन्तु अधिकांश मूर्तियां पास जैसी प्रभावोत्पादक नहीं हैं।

उत्तर भारत के पहाड़ी क्षेत्र में कत्यूरी राजाओं के प्रश्रय से एक कला शैली पल्लवित हुई। प्रारम्भिक मूर्तियां जो सातवीं–आठवीं शताब्दी की हैं, कला की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर हैं। इन मूर्तियों को ढालने के लिए एक विशेष प्रकार का काला चिकना पत्थर प्रयुक्त हुआ है। इन मूर्तियों की कुछ विशेषताएं पाल कलाशैली से मिलती–जुलती हैं। उदाहरणार्थ कमल का प्रयोग यहां भी अधिक है। ये मूर्तियां भी दूर से देखने पर धातु निर्मित सी लगती हैं। कुमायूँ तथा गढ़वाल क्षेत्र से कुछ कलात्मक प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं जो लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इलाहाबाद संग्रहालय में पार्वती की एक सुन्दर मूर्ति इस कला शैली का मुख्य उदाहरण प्रस्तुत करती है।

मध्यकाल की मूर्तियों को भांति–भांति के आभूषणों से सुसज्जित किया गया है। इसकी महत्ता के संबंध में डा. वासुदेवशरण अग्रवाल के ये शब्द उल्लेखनीय हैं–– 'भारतीय कला में सौंदर्य विधान के लिये अनेक अलंकरणों का प्रयोग हुआ है। देवों के मूर्त रूप कला के शरीर हैं तो भांति–भांति के अभिप्राय–अलंकरण उस शरीर के वाह्य मंडन हैं। इस सजावट के विना कला सभ्रान्त नहीं बनती।'[7] अलंकार स्त्री और पुरुष दोनों पहनते थे। सिर के आभूषण चूड़ामणि, मुक्तगुण, चटुलाचटुलमणि, किरीट, करण्ड मुकुट आदि थे। बालों को सवांरने के लिए प्रयुक्त सिरस्त्रक, कुन्तल, केशबन्ध थम्मिल और अलक चूडक शब्द मिलते हैं। कानों में बल्ली, कर्णभूषण, कर्णपूर, विभिन्न प्रकार के कुण्डल जैसे पत्रकुण्डल, वक्रकुण्डल, सर्पकुण्डल आदि प्रदर्शित किए गए हैं। हार विभिन्न प्रकार के मिलते हैं। साहित्य में भी इनके अनेक नाम हैं निष्क, मुक्तावली, एकावली, ताराहार, हारशेखरा, हारयकिट ग्रवेयक आदि। बाजुओं में अंगद और केयूर पहनने की प्रथा थी। हाथों में कंकण अथवा वलय का अंकन मिलता है। आंगुलीयक का प्रयोग कम मिलता है। कटि में पहने जाने वाली मेखला कान्ची, कनक किंकणी, हेममेखला, रशना, त्रिबली आदि नामों से ज्ञात है। उत्माल धारण करने की परम्परा भी थी। पैरों के टखनों में नूपुर प्रदर्शित किए गए हैं। अलंकरण को कतिपय अभिनव प्रयोग भी किए गए हैं। एक पुरुषाकृति को अनेक आभूषणों से सुसज्जित किया गया है जिसमें हथेली पर पहना गया टीका युक्त आभूषण विशेष उल्लेखनीय है। अधिकांश देव प्रतिमाओं में वनमाला,

मणियुक्त श्रीवत्स तथा मुक्तायज्ञोपवीत, सुवर्णसूत्र प्रदर्शित मिलता है। वक्षस्थल पर पहना जाने वाला छन्नवीर भी कुछ मूर्तियों में अंकित है। वस्त्र परिधान के अन्तर्गत प्रायः द्विवस्त्रों का प्रयोग किया गया है। ऊपर धारण किया गया वस्त्रउत्तरीय तथा अधो वस्त्र अन्तरीय कहलाता था। उत्तरीय पटुका या आधुनिक शाल का प्रत्यारूप है। अधोवस्त्र के लिए बाणभट्ट ने द्वितीयाम्बर शब्द प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त कुचवन्ध तथा उदर बन्ध परिधानों का अंकन भी हुआ है।

मध्यकालीन प्रतिमाओं के अध्ययन का मौलिक श्रोत विभिन्न प्रतिमा ग्रन्थ हैं। वैसे तो वैदिक साहित्य महाकाव्यों तथा स्मृति ग्रन्थों आदि में देवी–देवताओं के अनेक ध्यान मिलते हैं और ये संदर्भ प्रतिमाओं के शास्त्रीय विश्लेषण में बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं। परन्तु उत्तरवर्ती साहित्य तो मूर्ति–निर्माण विधान का सांगोपांग विवरण प्रदान करता है। अनेक पुराणों में मूर्तितत्व विरूपण भाग से एक पृथक अध्याय ही दिया गया है, जिसके अन्तर्गत प्रतिमाओं के निर्मित करने तथा उनकी स्थापना करने के निर्देश दिए गए हैं। न केवल इस अध्याय विशेष के अन्तर्गत ही वरन् पुराणों में यत्र–तत्र–सर्वत्र इस प्रकार के विस्तृत विवरण प्राप्त होते हैं जिनसे मूर्तियों का विषय पूर्णरूपेण प्रतिपादित होता है। अनेक पौराणिक आख्यानों को मूर्तिकला में महत्व दिया गया है और इन विषयों से संबंधित अनेक प्रतिमाएं मिलती हैं।

पुराणों में हरिवंशपुराण, अग्निपुराण, मत्स्यपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इन पुराणों की तिथियों के सम्बन्ध में विद्वान एक मत नहीं हैं। हरिवंशपुराण का अधिकांश भाग कुषाणकालीन समझा जाता है। मत्स्यपुराण की सातवीं शती तथा अग्निपुराण की दशवीं शती बहुमान्य तिथियां हैं। सेलाक्रेमरिया ने विष्णुधर्मोत्तर (विशेषकर तृतीय खण्ड) को गुप्तकालीन माना है।

प्रतिमाशास्त्रों में वृहत्संहिता सबसे प्राचीन कहा जा सकता है। इसका मूर्ति प्रकरण (अध्याय 57) विभिन्न प्रतिमाओं का विवरण प्रस्तुत करता है। इसकी तिथि छठी शताब्दी मानी गयी है। विष्णुधर्मोत्तर तथा मत्स्यपुराण दोनों थोड़े बाद के हैं। कुछ विद्वान इन ग्रन्थों को समकालीन (गुप्तकाल) मानते हैं। मानसार और मयमत गुप्तोत्तर काल की रचनाएं हैं। इनमें वास्तुशास्त्र संबंधी विस्तृत सामग्री संकलित है।

पूर्व मध्यकाल के कई प्रतिमा ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं। इनमें मूर्तिशास्त्रीय विपुल विवेचन उपलब्ध हैं। भोज के समरांगण सूत्रधार में प्रतिमाशास्त्र के पांव उपाड़ों पर प्रकाश डाला गया है।1. माध्यम 2. प्रतिमाओं का वर्गीकरण 3. प्रतिमामान 4. आसनमुद्रा 5. मूषा विन्यास, आयुध, वाहन इत्यादि। यह ग्रन्थ ग्यारहवीं शती का माना जाता है। मानसोल्लास के अभिलाषितार्थ चिन्तामणि के तृतीय प्रकरण में मूर्तिशास्त्र सम्बन्धी सामग्री संकलित है इसकी तिथि बारहवीं शती है। मध्यकालीन मूर्तिकला का अच्छी प्रकार निरूपण करने वाले ग्रन्थ हैं– अपराजितपुच्छा, रूपमण्डन, देवता मूर्तिप्रकरण तथा शिल्परत्न। अपराजितपृच्छा, रूपमण्डन तथा देवता मूर्ति प्रकरण के बहुत से विवरणों में साम्य है। श्री भुवनदेव का अपराजितपृच्छा वास्तु संबंधी सामग्री से भरा पड़ा है। इस ग्रन्थ का रचना काल प्रायः बारहवीं शती माना जाता है। हेमाद्रि ने चर्तुवर्ग चिन्तामणि के व्रतखण्ड से मूर्तिशास्त्र का अच्छा परिचय मिलता है।

श्री कुमार का शिल्परत्न तत्कालीन शिल्प परम्पराओं का अच्छा संकलन है। सूत्रधार मण्डन विरचित रूपमण्डन और देवता मूर्ति प्रकरण प्रतिमाशास्त्र संबंधी सामग्री से परिपूर्ण है। इन ग्रन्थों का प्रणेता अपराजितपृच्छा से अधिक प्रभावित थे। अनेक उदाहरण उसी के लिखे गए हैं। रूपमण्डन, देवता मूर्ति प्रकरण तथा शिल्परत्न की तिथि सोलहवीं शती मानी जाती है।

आगम साहित्य में भी मूर्तिशास्त्रीय विपुल सामग्री संग्रहीत है। जिन आगम ग्रन्थों में मूर्ति विधान उपलब्ध हैं, उनमें प्रमुख हैं– वैखानसागम, सुप्रभेदागम, किरणआगम, कामिकागम, अंशुभेदानम आदि। इनकी तिथि आठवीं शती से दसवीं शती के मध्य मानी जाती है। इनमें दक्षिण की मूर्ति संबंधी मान्यताओं का अच्छा संकलन है।

यहाँ तंत्र साहित्य का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। तांत्रिक सम्प्रदाय 7–8 वीं शताब्दी से पूर्वी भारत में पर्याप्त लोकप्रिय हो चुका था। तांत्रिक विचारधारा तथा वामावार पद्धति का भारतीय संस्कृति पर व्यापक प्रभाव पड़ा। तंत्रमार्ग में उपास्य की आराधना मंत्रों द्वारा होती है और उपासक अपने मनः चक्षुओं के आगे उसकी मूर्ति खड़ी कर लेता है। प्रत्येक देवता के निगूढ़ चिन्तन के लिए तंत्र के आगम ग्रन्थों में साधन दिए गए हैं। तंत्र साहित्य अधिकांशतः अप्रकाशित है जिससे तांत्रिक प्रभाव में बनी बहुत सी मूर्तियों को भलीभांति समझने में असुविधा होती है।

सन्दर्भ

1. अपवाद स्वरूप विष्णुमूर्तियों को छोड़कर।
2. देवों के साथ पशुओं से सम्बद्धीकरण की भावना उत्तर वैदिक काल की देन नहीं थी अपितु इस भावना का उदय वैदिक वाङ्मय में ही परिलक्षित होता है। ऋग्वेद में अनेक रथों का उल्लेख है, जिन्हें विभिन्न पशु खींचते थे।
3. रुद्रप्रमाणाः कर्तव्यास्तथा विद्याधरा नुपा।

   सप्तनिकाश्चते कार्या माल्यालंकार धारिणः।।

   खड्महस्तश्चर्ते कार्या भगनेवाय वा शुचि।। – विष्णुधर्मोत्तर, 42. 9–10
4. जोशी, बी.पु., मध्यकालीन विष्णुमूर्तियों से सम्बन्धित कुछ शब्द, संपुए. अंक 5–6, रेखाचित्र फलक है।
5. अग्रवाल, वासुदेवशरण, कला और संस्कृति, पृ. 239
6. दीक्षित, रामकुमार, कन्नौज, पृ. 221
7. अग्रवाल, वासुदेवशरण, भारतीय कला का अनुशीलन, कलाबिधि, वर्ष एक श्रावण, 2005, अंक, पृ. 14

□□

पंचशीलदह के शैलाश्रय : एक सर्वेक्षण

डॉ. सुजाता*

प्रागैतिहासिक संस्कृतियों की सूचनाओं के क्षेत्र में उत्तर प्रदेश राज्य का मीरजापुर जिला प्रागैतिहासिक शैलाश्रयों की उपलब्धता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। मीरजापुर जिले की सीमाओं को उत्तर में वाराणसी एवं संत रविदास नगर, पूर्व में चन्दौली, दक्षिण में सोनभद्र तथा उत्तर–पश्चिम में इलाहाबाद जिले की सीमाएं स्पर्श करती हैं। मीरजापुर जिले में कुल चार तहसीलें– मीरजापुर, चुनार, लालगंज एवं मडिहन हैं।

कैमूर पर्वत – श्रृंखला के दक्षिण में स्थित मीरजापुर का सम्पूर्ण भाग पहाड़ों और जंगलों से घिरा हुआ है। खनिज सम्पदा से युक्त, सघन वनों से आच्छादित एवं असमतल होने के कारण यह क्षेत्र कृषि के लिए अधिक उपयुक्त नहीं है, किन्तु प्रागैतिहासिक कालीन मानव के जीवन के लिए निश्चित रूप से यह स्थान बहुत ही उपयुक्त रहा होगा। इस क्षेत्र में हुए अब तक के शोध कार्यों और अनुसंधानों से यह स्पष्ट है, कि मीरजापुर क्षेत्र में स्थित इन पहाड़ियों तथा शैलाश्रयों का प्रयोग आरम्भिक मानव से लेकर प्रारम्भिक ऐतिहासिक कालीन मानव द्वारा समय–समय पर किया गया। जिसकी पुष्टि यहां के शैलाश्रयों में चित्रित चित्रों तथा अन्य पुरावशेषों की प्राप्ति से होती है।

विन्ध्य पर्वत – श्रृंखला के कैमूर क्षेत्र में सर्वप्रथम कार्लाइल द्वारा 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रागैतिहासिक शैल चित्रकला के प्रमाण प्राकाश में लाए गए। इसके पश्चात् जे. कॉकबर्न ने 1883 ई. में मीरजापुर के शैलाश्रयों से गैण्डे के शैलचित्रों को खोजा था। वर्तमान में पूर्व मीरजापुर जिले का यह क्षेत्र सोनभद्र जिले में आता है। 20वीं शताब्दी ई. में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रो. जी. आर. शर्मा ने प्रागैतिहासिक पुरास्थलों को खोजने के लिए पुरातात्विक अनुसंधान का कार्य अपने सहयोगियों के साथ प्रारम्भ किया। प्रो. आर.के. वर्मा एवं प्रो. जगदीश गुप्त द्वारा इस क्षेत्र में किए गए कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रो. ए.के. नारायण एवं प्रो. पी.सी. पन्त द्वारा प्रागैतिहासिक अध्ययन के क्षेत्र में किए गए कार्य भी उल्लेखनीय हैं। इसी क्रम में उक्त विद्वानों के अलावा डॉ. राकेश तिवारी एव डॉ. अर्जुन दास केसरी द्वारा मीरजापुर एवं सोनभद्र क्षेत्र में किए गए प्रागैतिहासिक शैलाश्रयों के सर्वेक्षण का कार्य भी विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

सर्वेक्षित पुरास्थल पंचशीलदह मीरजापुर जिले की मडिहन तहसील में निकरिका नामक संरक्षित वन क्षेत्र में स्थित है। यह पुरास्थल मेरे द्वारा यू.पी.ई. प्रोजेक्ट के अन्तर्गत किए जा रहे सर्वेक्षण के दौरान प्रकाश में आया है। पंचशीलदह (अक्षांश 24°55′ उ. एवं देशान्तर 82°54′ पू.) के शैलाश्रयों तक निकरिका संरक्षित वन क्षेत्र में स्थित लिखनिया नामक पुरास्थल से लगभग 2 कि. मी. की दूरी तय कर पहुंचा जा सकता है। प्रस्तुत शोध पत्र में मैने अपने सर्वेक्षण के दौरान पंचशीलदह से ज्ञात शैलाश्रयों में प्राप्त शैलचित्रों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

***असिस्टेण्ट प्रोफेसर, प्रा.भा.इ.सं. एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)**

पंचशीलदह पुरास्थल से तीन शैलाश्रय प्रकाश में आए हैं। इन तीनों ही शैलाश्रयों में चित्रों के अंकन प्राप्त हुए हैं। सामान्यतः शैलाश्रयों में चित्रों का अंकन उनकी भित्तियों एवं छतों की आन्तरिक सतह पर किया जाता था। यहां भी शैलाश्रयों में चित्रों के अंकन में यही परम्परा देखने को मिलती है, परन्तु अपवाद स्वरूप यहां के एक शैलाश्रय में प्रवेश पर ऊपर की ओर छत के किनारे पर बाह्य तरफ भी चित्रों का अंकन देखा जा सकता है। पंचशीलदह के इन शैलचित्रों के चित्रण के लिए शैलाश्रयों में प्रायः समतलीय एवं चिकनी सतह का प्रयोग किया गया है। यहां शैलचित्रों में प्रमुख रूप से गेरू रंग का प्रयोग हुआ है। शैलचित्रों के इस गेरू रंग में विविधता भी परिलक्षित होती है।

लाल रंग लौहतत्व युक्त हेमेटाइट से, काला रंग मेगनीज ऑक्साइड से तथा सफेद रंग केओलिन (Kaoline) एवं चूना पत्थर से प्राप्त किए जाते थे। वाकणकर, ब्रूक्स, गारसे गेलोव तथा मठपाल आदि विद्वानों की धारणा थी कि रंगों को बनाने के लिए इन रसायनयुक्त पाषाण खण्डों को पीसकर पहले चूरा बनाया जाता होगा, तत्पश्चात् इस चूरे में पानी मिलाकर तरल कर लकड़ी की कूची से चित्रों का अंकन इन शैलाश्रयों में किया जाता होगा। कुछ इतिहासकारों द्वारा यह मत भी प्रतिपादित किया गया है, कि इन पिसे रसायन चूर्णों में पानी की जगह पशु चर्बी, गोंद, Resin या वनस्पतियों का रस मिलाया जाता होगा, जो कि सम्भवतः इन रंगों को लम्बे समय तक फीका नहीं पड़ने देने में सहयोग करते थे। मीरजापुर की जनजातियों में आज भी रंग बनाने के लिए गेरू चूर्ण में तेल, सिन्दूर एवं अन्य वनस्पतियों का रस मिलाने की परम्परा देखने को मिलती है। सम्भवतः आदिमानव को रंग तैयार करने के लिए आवश्यक सामग्री अपने आस–पास के पर्यावरण में आसानी से उपलब्ध हो जाती थी, उसे इसके लिए अलग से कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता होगा। शैलाश्रयों में इन रंगों से चित्रण करने के लिए ठोस पतले बांस एवं पशु बालों से निर्मित कूची, पक्षियों के पंख तथा साही के कांटे आदि की सहायता ली जाती होगी।

पंचशीलदह के शैलाश्रयों में चित्रित चित्रों की विषयवस्तु में विविधता देखने को मिलती है। आदिमानव ने इन चित्रों के माध्यम से अपनी जीवन शैली को आने वाली पीढ़ी के लिए संजोया था। सम्भवतः इन चित्रों के चित्रण के पीछे निम्नवत् उद्देश्य रहें होंगे–

1. अपने आस–पास के परिवेश तथा जीवन शैली को भविष्य के लिए संरक्षित करने का प्रयास।
2. शिकार करने की तकनीक एवं क्षेत्र विशेष में उपलब्ध पशुओं से चित्रों के माध्यम से अगली पीढ़ी को परिचित कराना।
3. चित्रों के माध्यम से विशेष प्रकार के संकेतों को देना, आदि।

प्रागैतिहासिक शैलचित्रों के माध्यम से किसी क्षेत्र विशेष में किसी विशेष समुदाय की उपस्थिति या उनके वहां से पलायन की सूचनाएं भी प्राप्त की जा सकती हैं। मीरजापुर जिले के पूर्व ज्ञात शैलाश्रयों में हिरण का अंकन सर्वाधिक हुआ है। हिरण के अलावा यहां के शैलाश्रयों से गैण्डे, हाथी, बैल, नीलगाय, सुअर, बन्दर, लंगूर, कुत्ता, घोड़ा, ऊंट, सांप मछली, कछुआ, चिडिया, मोर बत्तख आदि का चित्रण भी देखने को मिलता है। पशु–पक्षियों के अलावा इन शैलाश्रयों में शिकार, उत्सव एवं मनोरंजन के दृश्यों का भी अंकन हुआ है।

पंचशीलदह के शैलाश्रयों को अध्ययन की दृष्टि से सर्वेक्षण के दौरान प्रकाश में आए क्रम के अनुसार, क्रमशः शैलाश्रय क्र. I (छायाचित्र–01), शैलाश्रय क्र. II (छायाचित्र–03) एवं शैलाश्रय क्र. III (छायाचित्र–05), नाम दिया गया है। इन तीनों शैलाश्रयों में चित्रित चित्रों का विस्तृत विवरण निम्नवत् है :–

छायाचित्र– 01 : शैलाश्रय क्र. I

छायाचित्र– 03 : शैलाश्रय क्र. II

शैलाश्रय क्र.– I इस शैलाश्रय में केवल छत की आन्तरिक सतह पर चित्रण देखने को मिलता है। इस चित्रण में हिरण, लोमड़ी/जंगली कुत्ता एवं एक बच्चे के अंकन को आसानी से पहचाना जा सकता है (छायाचित्र–02)। यह समस्त चित्र हल्के लाल रंग के हैं।

शैलाश्रय क्र. – II इस शैलाश्रय में चित्र, शैलाश्रय के प्रवेश स्थान पर छत की सामने की पट्टी पर अंकित हैं। यह चित्र रेखा शैली में निर्मित हैं। सम्भवतः इन चित्रों में मानव एवं हिरण का अंकन हुआ है (छायाचित्र–04)। रेखा शैली के इन चित्रों की शारीरिक संरचना बहुत स्पष्ट नहीं है। ये चित्र गहरे गेरू रंग के हैं।

छायाचित्र– 02

छायाचित्र– 04

शैलाश्रय क्र.– III शैलचित्रों के चित्रण की दृष्टि से यह शैलाश्रय पंचशीलदह का सबसे बड़ा शैलाश्रय है। इस शैलाश्रय में सबसे अधिक शैलचित्र देखे जा सकते हैं। एक चित्र के ऊपर दूसरे चित्र का अद्यारोपण, शैलीगत विविधता तथा रंगों में विविधता आदि इस शैलाश्रय के चित्रों में देखने को मिलती है। इस शैलाश्रय से ज्ञात कुछ महत्वपूर्ण चित्र इस प्रकार हैं –

- मानव एवं बकरी (छायाचित्र – 06)
- नृत्यरत मानव श्रृंखला (छायाचित्र–07)
- बॉक्स शैली में चित्रित हिरण के चित्र के ऊपर मानवाकृति का अद्यारोपण (छायाचित्र–08)
- मुखौटा धारी भाला लिए शिकारी का अंकन (छायाचित्र–09)
- कछुआ एवं शिकारी (छायाचित्र–10)
- स्त्री एवं बालक (छायाचित्र–11)
- विशालकाय आदिम चूहा (Mimomys) (छायाचित्र–12)
- लोमड़ी (Hyena) (छायाचित्र–13)
- भाला लिए घुड़सवार (छायाचित्र–14)
- हाथ का छापा तथा अन्य आकृतियां (छायाचित्र–15)
- मानव पैर के पंजो का रेखांकन (छायाचित्र–16)

छायाचित्र– 05 : शैलाश्रय क्र. III
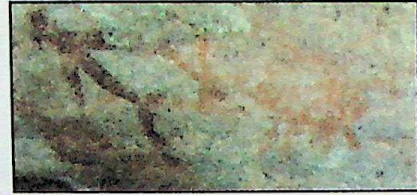
छायाचित्र– 06

उपर्युक्त वर्णित चित्रों के अलावा इस शैलाश्रय में पशुओं के समूह, समूह में शिकारी, हिरण, बन्दर/लंगूर, केंकड़ा एवं बकरी आदि के भी चित्रण को सरलता से पहचाना जा सकता है। इस शैलाश्रय के चित्रों का रंग लाल एवं गहरा गेरू है। कुछ चित्रों का रंग बहुत गहरा लाल है, जिसकी वजह से उनमें काले रंग की आभा ऊभर रही है।

शैलचित्रों के अध्ययन में उनका तिथिक्रम निर्धारण करना एक अत्यन्त कठिन कार्य है। भारतीय शैलचित्रों के अभी तक हुए अध्ययनों में इनके तिथि निर्धारण के लिए अद्यारोपण, चित्रों की शैली, निर्धारित विषयवस्तु तथा चित्रों के रंगों आदि को आधार बनाया गया है तथा इन्हीं के आधार पर इनकी तिथि निर्धारित करने का प्रयास किया जाता रहा है। भारतीय शैलचित्रों को तीन बड़े काल खण्डों में विभाजित किया जाता है, जो इस प्रकार हैं–

- मध्यपाषाण कालीन शैलचित्र
- नवपाषाण–ताम्रपाषाण कालीन शैलचित्र
- ऐतिहासिक कालीन शैलचित्र

पंचशीलदह से ज्ञात कुछ शैलचित्रों की प्राचीनता को मध्यपाषाण काल तक रखा जा सकता है, क्योंकि अभी तक जिन मुख्य बिन्दुओं को शैलचित्रों के तिथि निर्धारण के लिए आधार बनाया गया है, वह सभी यहां से स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं। इन शैलाश्रयों में चित्रों के चित्रण की निरन्तरता ऐतिहासिक काल तक देखी जा सकती है।

इस प्रकार उपरोक्त शैलचित्रों के अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता

है कि पंचशीलदह के इन ज्ञात शैलाश्रयों का प्रयोग मध्यपाषाण काल से लेकर ऐतिहासिक काल तक के मानव द्वारा समय-समय पर किया गया होगा। अतः इसमें कोई संदेह नहीं है कि शैलचित्रों

छायाचित्र-07

छायाचित्र-08

छायाचित्र-09

छायाचित्र-10

छायाचित्र-11

छायाचित्र-12

छायाचित्र-13

छायाचित्र-14

छायाचित्र–15

छायाचित्र–16

की उपलब्धता के दृष्टिकोण से पंचशीलदह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पुरास्थल है तथा सर्वेक्षण के दौरान प्रकाश में आए उक्त शैलचित्र, इन शैलाश्रयों के और अधिक विस्तृत एवं तकनीकी अध्ययन की ओर प्रेरित करते हैं।

सन्दर्भ

- कार्लाइल, ए.सी. एल. : 1883, 'नोट्स ऑन लेटली डिस्कवर्ड सेपल्क्रल् माउण्ड्स, कैर्नस, केव्स, केव पेन्टिंग्स एण्ड स्टोन इम्प्लीमेन्ट्स', प्रोसिडिंग्स ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता।
- गुप्त, जगदीश : 1967, प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला, दिल्ली।
- वाकणकर, वी. एस. एवं ब्रूक्स रॉबर्ट, आर. आर. : 1976, स्टोन एज पेन्टिंग्स इन इण्डिया, बॉम्बे।
- पन्त, पी.सी. : 1982, प्रिहिस्टॉरिक उत्तर प्रदेश, दिल्ली।
- न्यूमायर, इरविन : 1983, प्रिहिस्टॉरिक इण्डियन रॉक पेन्टिंग्स, दिल्ली।
- मठपाल, यशोधर : 1984, प्रिहिस्टॉरिक रॉक पेन्टिंग्स आफ भीमबेटका, सेन्ट्रल इण्डिया, नई दिल्ली।
- वर्मा, राधाकान्त : 1984, 'द रॉक आर्ट ऑफ साउदर्न उत्तर प्रदेश विद् स्पेशल रिफरेन्स टू मिर्जापुर', रॉक आर्ट ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली।
- तिवारी, राकेश : 1990, रॉक पेन्टिंग्स ऑफ मिर्जापुर, लखनऊ।
- लॉर्ब्लेन्शेत, एम. (सम्पादक) : 1992, रॉक आर्ट इन द ऑल्ड वर्ल्ड, नई दिल्ली।
- केसरी, अर्जुन दास : 1995 (द्वितीय संस्करण), शैलाश्रित गुहाचित्र, सोनभद्र।
- वर्मा, राधाकान्त : 2012, रॉक आर्ट ऑफ सेन्ट्रल इण्डियाः नॉर्थ विन्ध्य रीजन, नई दिल्ली।

□□

विश्वविद्यालय संग्रहालयों का इतिहास शिक्षण में योगदान

डॉ. अनुराधा सिंह*

प्रस्तुत शोधपत्र विश्वविद्यालयों में स्थित संग्रहालयों एवं इतिहास विषय के बीच विद्यमान बौद्धिक अर्न्तसम्बन्धों को रेखाकिंत करता है। इस प्रकार के संग्रहालय अपने शैक्षणिक कार्यक्रमों द्वारा कैसे इतिहास शिक्षण को बढ़ावा देते है। इतिहास अपने अध्ययन में संग्रहालयों का किस प्रकार उपयोग करता है। क्या संग्रहालय की सहायता से इतिहास को सम्पूर्णता में समझा जा सकता है, जैसे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया गया है।

इतिहास जनप्रिय विषय हैं। प्राथमिक कक्षाओं से ही इस विषय का अध्ययन छात्रों को लिखित रूप में कराया जाता है। उच्च कक्षाओं में इतिहास का स्वरूप व्यापक हो जाता है। अब छात्र लिखित पाठ्यपुस्तकों से ही सन्तुष्ट नही हो पाते हैं। छात्रों की जिज्ञासा इतिहास लेखन में प्रयुक्त प्राथमिक स्रोतों को देखने, अध्ययन करने की होती है। इस हेतु संग्रहालय उपयुक्त स्थान है। संग्रहालय अपने विविध शैक्षणिक कार्यक्रमों के द्वारा इतिहास के छात्रों में प्राथमिक स्रोतो को पढ़ने एवं समझने सम्बन्धि ज्ञान को प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।[1]

संग्रहालय और इतिहास का विशेष सम्बन्ध हैं। भारतीय संग्रहालयों में संग्रहित अधिकांश संग्रह इतिहास, कला एवं पुरातत्व से सम्बन्धित हैं। इतिहासकार संग्रहालयों में संग्रहित, मूर्तियों, अभिलेखों, सिक्कों, मृदभाण्डो, मृण्डमूर्तियों चित्रों, एवं शासकीय दस्तावेजों के आधार पर इतिहास का निर्माण करता हैं। संग्रहालय अपने समृद्ध संग्रह, प्रभावपूर्ण प्रदर्शनी एवं महत्वपूर्ण प्रकाशनों के माध्यम से छात्रों पर गहरा प्रभाव डालता है। प्रायः उचित ही कहा जाता है कि, संग्रहालय किसी देश के इतिहास और संस्कृति का दर्पण होता है।[2] पर्यटक किसी देश के इतिहास और संस्कृति सम्बन्धि जानकारी के लिए सर्वप्रथम संग्रहालयो का ही भ्रमण करते है।

विश्वविद्यालय संग्रहालय विश्वविद्यालय द्वारा प्रशासित एवं पोषित होते है। शैक्षणिक संस्थाए अपने छात्रों को मूर्त ज्ञान प्रदान करने के लिए तथा पाठ्य विषय को रूचिकर बनाने के लिए अपने परिसर में संग्रहालय की स्थापना करते है। स्कूल, कालेजों, तथा विश्वविद्यालयों में इस प्रकार के संग्रहालय स्थापित किया जाते है। इनका संचालन संस्था के अधिकारी के देख–रेख में अध्यापको तथा प्रशिक्षित कर्मचारियों द्वारा होता है। संक्षेप में विश्वविद्यालय संग्रहालय प्रायः विश्वविद्यालय के विभागों से जुड़े रहते है अथवा विश्वविद्यालयी छात्रों की आवश्यता अनुसार व्यवस्थित होते है।[3] ऐसे संग्रहालय शिक्षण संस्थाओं का कार्य करते है जो शोध कार्य हेतु आवश्यक शोध सामग्री व उपकरण उपलब्ध कराते है। विश्वविद्यालय संग्रहालय प्राथमिक रूप में शिक्षा के केन्द्र होते है जो मुख्यतः विद्यार्थियों की सेवा में रत होते है। सभी संग्रहालयों के समान विश्वविद्यालय संग्रहालय का भी मुख्य उद्देश्य शिक्षा और ज्ञान है। किन्तु वह अन्य संग्रहालयों से इस अर्थ में भिन्न है कि इसकी विषयवस्तु उच्च शिक्षा और शोध से सम्बन्धित होती है यहाँ संग्रहालय कार्य के विद्वत पक्ष की झलक मिलती है एवं संग्रहालय कार्यक्रम भी विकसित होते है।[4]

***असिस्टेन्ट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी**

भारत में सर्वप्रथम विश्वविद्यालय संग्रहालय 1937 में भारत के महान शिक्षाविद् तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय के उप कुलाधिपति सर आशुतोश मुखर्जी के नाम से स्थापित हुआ। इसका उद्देश्य था भारतीय इतिहास एवं कला के विविध चरणो की अनेकानेक कलाकृतियों का संग्रहण तथा संरक्षण।[5] कुछ अन्य प्रमुख उदाहरणों में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का भारत कला भवन, गुजरात का सरदार पटेल विश्वविद्यालय संग्रहालय आदि प्रमुख है। कुछ विश्वविद्यालय संग्रहालय विभिन्न विभागों से सम्बन्धित है जिनमें कुछ विशाल तो अन्य छोटे है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के संग्रहालय में विभाग द्वारा उत्खनन और सर्वेक्षण से प्राप्त वस्तुओं का संग्रह किया गया है। इसी प्रकार के संग्रहालय महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ विश्वविद्यालय बड़ौदा, लखनऊ विश्वविद्यालय एवं अन्य विश्वविद्यालयों में भी हैं। इनमें अधिकांश विभागीय संग्रहालय इतिहास, कला एवं पुरातत्व से सम्बन्धित है। विश्वविद्यालय संग्रहालय में संग्रह और शिक्षा का कार्य होता है किन्तु धन के अभाव तथा मानव भक्ति की कमी शैक्षणिक कार्य के सफल क्रियान्वयन में बाधक भी होती है। कुछ विभागीय संग्रहालय तो एक कमरे में सीमित होते है और प्रायः बन्द ही रहते है। फिर भी इस प्रकार के संग्रह का शैक्षणिक दृष्टि से अपना महत्व है।[6]

दृश्य शिक्षा के सहायक के रूप में विश्वविद्यालय संग्रहालय इतिहास के विद्यार्थियों की समझ को बढ़ाने में सहायक होते है। वही शोध सामग्री के रूप में वह शोधकर्ताओं और अध्यापको को मदद भी प्रदान करता है। प्राथमिक रूप से संग्रहालय का सर्वप्रथम कार्य है, संग्रह करना। विश्वविद्यालय संग्रहालय इतिहास से सम्बन्धित वस्तुओं का संग्रह करता है। यह संग्रह इतिहास शिक्षण एवं शोध कार्य से सम्बन्धित उद्देश्यों की परिपूर्णता में उपयोगी होते है। विश्वविद्यालय संग्रहालय अपने प्रदर्शनी के माध्यम संग्रहित ऐतिहासिक वस्तुओं को प्रस्तुत करता है। संग्रहालय में प्रदर्शनी एक गम्भीर कार्य है जिसमें चुनी हुई वस्तुओं को किसी उद्देश्य प्राप्ति हेतु क्रम से दिखाया जाता है।[7] संग्रहालय के विविध वीथिका इतिहास को अपने संग्रह के माध्यम से व्यक्त करते है। जैसे मूर्तिशिल्प वीथिका इतिहास के विद्यार्थियों को कला सम्बन्धी जानकारी प्रदान करता है। वीथिका में लगे संक्षिप्त विवरण पत्र प्रदर्शित शिल्पों का कालक्रमानुसार विवरण प्रस्तुत करते है। इसी प्रकार चित्र, मुद्रा, अभिलेख आदि से सम्बन्धित विथिका इतिहास शिक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। संग्रहालय द्वारा विश्वविद्यालय के स्नातक व स्नातकोत्तर स्तर के पाठ्यक्रमों के अनुरूप इतिहास के विविध पक्षों का मूर्त अभिव्यक्तिकरण किया जाता है। इस विधि से छात्र इतिहास सम्बन्धी ज्ञान को विस्तार में समझ पाते है। ऐतिहासिक संग्रहों को देखने से छात्रों के मन–मस्तिष्क पर स्थायी प्रभाव पड़ता है।[8]

संग्रहालय को प्रायः इतिहास के ज्ञान के एक स्रोत के रूप में देखा जाता है। ज्ञान सम्प्रेषण के सफल निष्पादन हेतु शोध एक अपरिहार्य कार्य है। विश्वविद्यालय के इतिहास कला, साहित्य एवं पुरातत्व जैसे विषयों में शोधरत छात्रों को विश्वविद्यालय में स्थापित या विभागों से सम्बद्ध संग्रहालयों से शोध कार्य में मदद प्राप्त होता है। शोध छात्रों के अतिरिक्त अध्यापक गण भी इसमें रूचि लेते है। इस प्रकार के शोध कार्यों से संग्रहालयों में संग्रहित संग्रहों के महत्व उनके कलात्मक गुण एवं

इतिहास में उनकी उपादेयता के बारे में हमें जानकारी प्राप्त होता है।[9] शोध कार्य किसी एक संग्रह पर या किसी एक काल से सम्बन्धित संग्रहों पर आधारित हो सकता है। दूसरे शब्दों में कहे तो शोध कार्य से हमें इतिहास से जुड़े तथ्यों के बारे में प्रमाणिक जानकारी प्राप्त होता हैं।

संग्रहालयों को अनुसंधान कार्य का केन्द्र माना जाता है और प्रकाशन इस कार्य प्रणाली का महत्वपूर्ण अंग है। प्रकाशन शिक्षा के प्रचार–प्रसार के उचित माध्यम भी होते है। संग्रहालय की गुणवत्ता उच्चकोटि के और ज्ञानपरक प्रकाशन के माध्यम से परिलक्षित होता है। मूल वस्तुएं संग्रहालय में संग्रहित होते है जिन पर किया गया शोध कार्य प्राथमिक और अत्यन्त उपयोगी होता है। एक संग्रहालय इतिहास विषय से सम्बन्धित महत्वपूर्ण प्रकाशनों पर बल देता है। गाइड बुक, कैटलाग, फोल्डर, हैण्डबुक, पोस्टर, पत्रिका, पुस्तक आदि महत्वपूर्ण प्रकाशन होते है। इन प्रकाशनों से विश्वविद्यालय के छात्रों को अपने इतिहास और संस्कृति से सम्बन्धित महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होता है। संग्रहालयों को हमेशा यह प्रयत्न करना चाहिए कि अधिक से अधिक शोध हो और जो जानकारी प्राप्त हो उसका निरन्तर प्रकाशन होता रहें।[10]

विश्वविद्यालय संग्रहालय के पास अपना एक समृद्ध पुस्तकालय होना चाहिए। जैसा कि भारत कला भवन संग्रहालय, वाराणसी के पास है। संग्रहालय से सम्बन्धित पुस्तकालय में संग्रह विशेष से सम्बन्धित पुस्तके उपलब्ध होनी चाहिए। इससे इतिहास विषय के छात्रों को विषय का विस्तृत अध्ययन करने में सहायता प्राप्त होता है। विथिका भ्रमण के उपरान्त प्रदर्शित वस्तु के बारे में छात्र विस्तार से जानना चाहे तो वे पुस्तकालय में जाकर अधिक जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। संग्रहालय के पास अपना व्याख्यान कक्ष भी होना चाहिए। व्याख्यान कक्ष में निरन्तर इतिहास एवं संग्रह से सम्बन्धित व्याख्यान विषय विशेषज्ञों द्वारा कराया जाना चाहिए। इस प्रकार के व्याख्यानों में इतिहास के छात्रों की भागीदारी को सुनिश्चित करना चाहिए।

प्रायः विश्वविद्यालय के संग्रहालयों द्वारा समय–समय पर विविध कार्यक्रम आयोजित किये जाते है। ये कार्यक्रम इतिहास एवं इससे सम्बन्धित विषयों पर मुख्यतः केन्द्रित होते है। इनमें प्रसिद्ध व्यक्तियों के व्याख्यान, वीथिका वार्ता, संगोष्ठी, परिसंवाद, प्रशिक्षण कार्यक्रम, सांस्कृतिक कार्यक्रम, वाह्य परिभ्रमण प्रमुख है।[11] इन कार्यक्रमों में भाग लेकर इतिहास विषय का छात्र स्रोतो के मूल स्वरूप एवं स्रोतों में उपलब्ध जानकारी से सम्बन्धित प्रभावपूर्ण ज्ञान अर्जित कर सकता है। यह ज्ञान छात्रों में इतिहास की समझ को व्यवस्थित रूप प्रदान कराता है। इस प्रकार विश्वविद्यालय में स्थित संग्रहालय अपने शैक्षणिक गतिविधियों द्वारा इतिहास शिक्षण को विस्तार देते है। छात्र मूल स्रोतो का अध्ययन कर नये ज्ञान के आलोक में इतिहास से जुड़ी पुरानी मान्यताओं में परिवर्तन करते है तथा कुछ नये विचारों का प्रतिपादन करते है।

संदर्भ

1. मोर्ले, ग्रेस म्यूजियम टूडे, एम.एस. यूनिवर्सिटी, बड़ौदा, 1962, पृष्ठ संख्या 8–9
2. गणेशन्, आर. संग्रहालय दर्पण, पिलग्रिम्स पब्लिकेशन, वाराणसी, 2005, पृष्ठ संख्या 24–25
3. सिंह, अरविन्द कुमार, संग्रहालय विज्ञान, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 2003, पृष्ठ सं. 25–25
4. विस्वास, टी.के. म्यूजियम एण्ड एजुकेशन, न्यू एज इन्टरनेशनल लिमिटेड पब्लिसर, नई दिल्ली, 1996, पृ.सं. 6–8
5. बनर्जी, स्वपना ग्लिम्पसेस आफ म्यूजियमसः द बेस्ट बंगाल सेनैरिओ, पुन्थी पुस्तक, कोलकाता, 2006, पृ. सं. 46–47
6. अग्रवाल, ओ.पी. 'प्राब्लम ऑफ यूनिवर्सिटी म्यूजियम्स' जर्नल आफ इण्डियन म्यूजियम, भाग–52, 1996 पृ. सं. 61–65
7. जैन, संजय म्युजियम एवं म्युजियोलाजी : एक परिचय, कनिका प्रकाशन बड़ौदा, 2001, पृ.सं.–41
8. शर्मा, श्याम बिहारी 'शिक्षा संस्थाओं में संग्रहालय' जर्नल आफ इण्डियन म्यूजियम भाग 51, 1995, पृ.सं. 160–165
9. पौनदुरइ, आर, 'दी रोल आफ यूनिवर्सिटी म्यूजियम इन रिसर्च' जर्नल आफ इण्डियन म्यूजियम, भाग 41, 1985, पृ.सं. 53–55
10. गणेशन्, आर. भारतीय संग्रहालय एवं जनसम्पर्क, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, 2002, पृ.सं. 36–40
11. पंत, जी.एन. 'एजुकेशन प्रोग्राम्स एण्ड आउटरिच एक्टीविटिज' जर्नल आफ इण्डियन म्यूजियम, भाग 51, 1995, पृ.सं. 104–112

◻◻

SUN WORSHIP IN THE INSCRIPTIONS OF EARLY MEDIEVAL

CENTRAL INDIAN DYNASTIES

Dr. Surabhi Srivastava*

The region of central India (Madhya pradesh) was predominantly ruled by three major dynasties during the early medival period, i.e. from 8th century A.D. to 12th century A.D. These royal houses were of the Pratiharas, the Paramaras and the Kalchuris. Though saivism was the most dominant cult during the reign of these dynasties yet we find references to the instances of Sun worship in their epigraphs scattered hither and thither.

Surya was worshipped under various names in the epigraphs of these dynasties such as - Indradityadeva[1], Indrarajadityadeva[2], Tarunadityadeva[3], Bhaillasvamideva[4] and two of the Pratihara rulers are said to be Adityabhaktas in their inscriptions.

An image of Adityabhattaraka (sun) has been brought to light from Dinajpur district of Bangladesh[5] (the area was under the reign of Pratihara ruler Mahendrapala I) on the foot hold of which there is a legend of two lines which tells us that the image of Sun-god, bearing the epigraph was built by a person named Lokanandin, the son of Ganganandin in the 15 reignal year of Mahendrapala. Two copper plates of the reign of the same Pratihara ruler have been discovered at Una[6] (Junagarh, Gujrat) refer to a sun temple as Tarunadityadeva, which stood on the bank of river kanakvirika. Two grants were made to this temple, a village Jayapura and another a piece of land by the Chalukya feudatories Balavarman and Avntivaraman II.

Similarly the Partabgarh inscription of Pratihara king Mahendrapala II from southern Rajputana, dated Vikram era 1003 i.e. 946 A.D.7 records the existance of several temples at the village Ghontavarasika, where the cheif temple belonged to Indradityadeva i.e. the sun-god also called the deity of Ghontavarsika. Several Sun temple of this period have also been brought to light which include the Sun-temples at Umri and Village Mankheda in Tikamagarh district of Madhya Pradesh while another one exists at Sesai, district Shivapuri, Madhya Pradesh.

Glimpses of the method of Sun-worship can also be obtained from the charters. By this time the Sun-god had attained a fully developed anthopomorphic personality[8]. A few members of the family of Surya are found in the epigraphs of

---

*Assistant Professor, Ancient Indian History, Deptt. of History, Dr. Shakuntala Misra National Rehabilitation University, Lucknow

the period viz. the Sun euology from Bhilsa[9] by poet Chhitapa inscribed on a stone belongs to the period of the Paramara ruler Bhoja. The euology praises ysha (dinasri-i.e. day light) as a good wife (sugrhini) of Sun who gets up much earlier at dawn and goes to bed in the late evening.[10]

Another Eulogy of Sun-god from Udaipur (incomplete and undated)[11] imbedded in the mandapa of an old temple at Udaipur in the Vidisha (Bhilsa) district of Madhya pradesh opens with a short sentence showing obeisance to the sun. The inscription has a Mangala sloka, intending to say that this deity bears the nave of the moving world-wheel, to which his rays in the form of spokes are attached. The poet furthur refers to the well known fact that the Sun's splendour is (reflected) in the moon and also to be seen in the fire, which is eulogised by the gods, and that he is the lord (store) of the eternal light. It further praises the deity by stating that the Brahman and the world are nothing but the forms of the sun, the first of this being unmanifested and minute, as to be seen only by the ascetics, and the latter, when it becomes manifest and extensive, in the world. In the next partly preserved stanza it says that the deity imparts lustre not only to the eyes but also to the mind. The last verse identifies the world with the Sun-god.

It is interesting to note that both the eulogies come from Bhilsa (Vidisha district) which was a renowned centre of Hindu pilgrimage during the period. Bhaillasvami was a local form of the Sun-god at Bhilsa as is known from several inscriptions.[12]

Of the four houses of Kalchuris it is the kalchuris of Daksina kosla whose charters furnish information about the surya cult prevalent in the region. Reference is available to a temple containing the image of Revanta the son of Sun-god in the Ratanpur Stone, Inscription of Prithvideva-II, Kalchuri era 915.[13] Another temple of this deity is said to be built by a feudatory chief Vallabharaja, the ruins of the temple still exist at kotgarh and the reference occures in, the Akalatara stone inscription of Ratandeva-II.[14] Similarly Revanta has also been referred to in the Sheorinarayan statue Inscription of Kalchuri era 898.[15] Reference to the construction of a temple dedicated to Sun (Ravi) at Pahapaka by the Prime Minister of Ratandeva named Gangadhara is found in the kharod stone Inscription of Ratandeva III[16]. We also have the epigraphic testimony of the kalchuries (Haihayas) which indicates their origin to the Sun,[17] i.e. the Suryavamsis. Besides a large number of stone images belonging to the surya pantheon have also been brought to light not only from Daksina kosla but from the Central India as well.

The epigraphic as well as the architectural and sculptural evidences testify the popularity of the Sun-god during the period undertaken for study.

References

1. Epigraphia Indica, xiv, p.182 ff. II. 23-28.
2. Ibid, p. 182 ff.II. 23-28.
3. Ibid, ix, pp. 1-9.
4. Ibid, I, p.177, I. 29.
5. EI, xxxvii, p. 204 ff.
6. EI, ix, p. 1-9
7. EI, xiv, p. 176.
8. V.C. Srivastava, Sun Worship in Ancient India, Indological publications, Allahabad, First edn. 1972, p. 388.
9. Epigraphia India, xxx, 1953-54, pp. 215 ff.
10. Ibid, vv.14, 15.....pratarhi rahsa yatvam dinlaksmya (svayam vrtah?) (ro) camanam punah sa tvamhya mantenugacchhati, purvamutthiyate pratah pascatsamvisyate nisi aho sugrhinivrttamusasa tenugrhayate
11. Corpus Inscription Indicarum, vol.vii, part. 3, pp. 646 ff.
12. D.C. Sircar, E.I., vol.xxx, p. 210ff.; F.E. Hall, Journal of Asiatic Society of Bengal, Vol. xxxi, p.iii.
13. CII, vol iv, pt.ii, p.499, 1.26....... saprakaraneka prasada mathopeta maramoddyanam ca tatha Revantamurti devakulam................
14. Ibid, vol, iv, pt. II, p.433, 1.15...............................Revantamandirmisannayanopobhagyam bha (ktyo)- pacarcature (na) yasodhanena.................
15. Ibid, vol. iv, pt. II, p.584, 1.2................. ravitanayo................
16. Ibid, vol. iv, pt. II, p.539, v.35, devidurggagrham durgge raveh paha (pake?) (pure)....... Ibid, vol. iv. pt. II. 401 ff.

□□

"Museum : Unfolds our glorious past"

राज्य संग्रहालय, लखनऊ की नवीन प्राप्तियों में महाराजगंज के स्वर्ण सिक्के

डॉ. यशवन्त सिंह*

सिक्के प्राचीन इतिहास से सम्बन्धित सूचनाएं उपलब्ध कराने का एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं। यह कई विवादास्पद ऐतिहासिक गुत्थियों के समाधान के लिए ठोस साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास के कई शासकों की जानकारी उनके सिक्कों से ही प्राप्त हुई है। हमारे पूर्वजों द्वारा जाने–अनजाने में भूमि में दबा दिए गए सिक्कों का प्राचीन इतिहास के निरूपण के लिए अत्यधिक मूल्य एवं महत्व है। वर्तमान समय में उपलब्ध होने वाले प्राचीन सिक्कों में से अधिकांशतः वह हैं, जो तत्कालीन समय में किसी न किसी का संचित धन थे तथा उनके द्वारा सुरक्षा की दृष्टि से इन्हें पात्रों इत्यादि में रखकर भूमि में दबा दिया गया था। सिक्कों की धातु, निश्चित वजनमान एवं उन पर अंकित प्रतीक, तीनों ही अपने–अपने ढंग से ऐतिहासिक महत्व की सूचनाएं प्रस्तुत करते हैं। इन तीन तत्वों के अध्ययन के आधार पर सिक्कों से सम्बन्धित राजवंश तथा काल की राजनैतिक, धार्मिक एवं आर्थिक स्थिति को स्पष्ट किया जा सकता है।

प्राचीनकालीन भारत में विभिन्न धातुओं के सिक्कों का प्रचलन हुआ। गुप्त शासकों के शासन के पतन के पश्चात् स्वर्ण सिक्कों की दुर्लभ रूप में उपलब्धता को देखते हुए यह अनुमान किया जाता है, कि सम्भवतः गुप्तों के बाद कई शताब्दियों तक स्वर्ण सिक्के कम संख्या में तात्कालिक विभिन्न राजवंशों के शासकों द्वारा जारी किए गए। इस दौरान न केवल स्वर्ण सिक्कों की संख्या में कमी आई, बल्कि इनकी कलात्मकता में भी गिरावट आई। इस कमी को ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में त्रिपुरी (म. प्र. के कलचुरि नरेश गांगेयदेव (लगभग 1015–1040 ई.) ने अपने स्वर्ण सिक्के चलाकर दूर किया। इन सिक्कों के अग्रभाग पर पद्मासना चतुर्भुजी लक्ष्मी का अंकन हुआ है तथा पृष्ठभाग पर नागरी लिपि में ''श्रीमद्गाङ्गेयदेव'' लिखा है। इनका वजनमान लगभग चार ग्राम के करीब है। इन सिक्कों पर लक्ष्मी का अंकन सुन्दरता से लेकर सामान्य कोटि तक का मिलता है।

गांगेयदेव के लक्ष्मी–प्रकार के सिक्कों के अनुकरण पर परमार शासक उदयादित्य एवं नरवर्मन; चन्देल शासक कीर्तिवर्मन, सल्लक्षणवर्मन, मदनवर्मन, परमर्दि, त्रैलोक्यवर्मन एवं वीरवर्मन; शाकम्बरी के चाहमान शासक अजयदेव (अजयराज); गाहड़वाल शासक गोविन्दचन्द्रदेव तथा कुछ अन्य राजवंशों के शासकों जैसे :– अजयपाल, कुमारपाल एवं महीपाल आदि ने भी अपने इसी भांत के सिक्कों को प्रचलित किया। लक्ष्मी–प्रकार के यह सिक्के स्वर्ण के अलावा चाँदी एवं तांबे के भी मिलते हैं। यह सिक्के शुद्ध स्वर्ण से लेकर खराब गुणवत्ता के स्वर्ण में, स्वर्ण–चाँदी मिश्रित धातु में तथा चाँदी एवं तांबे की विभिन्न प्रकार की मिलावट के द्वारा निर्मित धातु में बने उपलब्ध हुए हैं। लक्ष्मी–प्रकार के यह सिक्के इतने लोकप्रिय हुए, कि बाद में मोहम्मद गोरी ने भी स्वर्ण के इसी भांत के अपने सिक्के भी जारी किए।

***मुद्राशास्त्र अधिकारी, राज्य संग्रहालय, लखनऊ (उ.प्र.)**

ऐतिहासिक महत्व के प्राचीन सिक्कों के संग्रह की दृष्टि से राज्य संग्रहालय, लखनऊ का मुद्रा–संग्रह विशाल एवं अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस संग्रह में विभिन्न राजवंशों एवं काल से सम्बन्धित सिक्के संग्रहित हैं। राज्य संग्रहालय, लखनऊ के इस विशाल मुद्रा–संग्रह में नवीन प्राप्तियों के माध्यम से निरन्तर वृद्धि भी हो रही है, जिससे कई नवीन ऐतिहासिक पहलुओं के भी प्रकाश में आने की सम्भावनाएं लगातार बनी हुई हैं। कुछ समय पूर्व निखात–निधि अधिनियम के माध्यम से उत्तर प्रदेश राज्य के महाराजगंज जिले से प्राप्त हुए प्राचीन स्वर्ण सिक्कों की एक निधि प्रकाश में आई है। इन स्वर्ण सिक्कों के साथ प्राप्त पुलिस थाने की लिखित सूचना के आधार पर, इस स्वर्ण सिक्का–निधि को दिनांक 08.07.2011 को श्री राधेश्याम निषाद एवं श्री चन्द्रपति, निवासीगण–मंगलपुर, द्वारा थाना–श्याम देउरवा में दाखिल किए जाने की जानकारी मिलती है। वर्तमान में स्वर्ण सिक्कों की यह निधि (13 अक्टूबर, 2011 से) राज्य संग्रहालय, लखनऊ की एक महत्वपूर्ण धरोहर है।

छायाचित्र – 01

महाराजगंज से प्राप्त उक्त निधि में कुल तीन लक्ष्मी–प्रकार के प्राचीन स्वर्ण सिक्के एवं एक स्वर्ण रिंग (छल्ला) है (छायाचित्र–01)। इनका विस्तृत विवरण निम्नवत् है :–

सिक्का क्र. – 01 : (छायाचित्र – 02)

धातु – स्वर्ण　　　　माप – 8 मि.मी.

आकार– वृत्ताकार　　　　वजन – 3.56 ग्राम

अग्रभाग : पद्मासना चतुर्भुजी लक्ष्मी का अंकन।
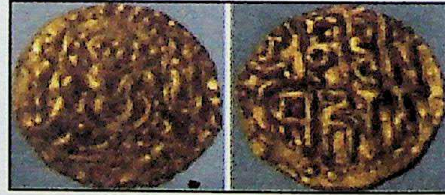
पृष्ठभाग : दो पंक्तियों में नागरी लिपि में लेख – ''श्रीमद् वीरसिंहराम'' का अंकन।

छायाचित्र – 02

सिक्का क्र.– 02 : (छायाचित्र –03)

धातु – स्वर्ण　　　　माप – 8 मि.मी.

आकार – वृत्ताकार　　　　वजन– 3.60 ग्राम

अग्रभाग : पद्मासना चतुर्भुजी लक्ष्मी का अंकन।
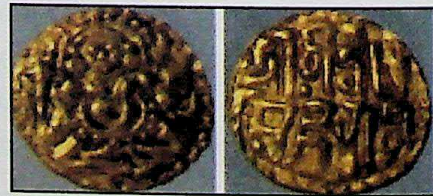
छायाचित्र – 03

पृष्ठभाग : दो पंक्तियों में नागरी लिपि में लेख– 'श्रीमद् वीरसिंहराम' का अंकन।

सिक्का क्र. – 03 : (छायाचित्र – 04)

छायाचित्र – 04

धातु – स्वर्ण माप – 8 मि.मी.

आकार – वृत्ताकार वजन – 3.60 ग्राम

अग्रभाग : पद्मासना चतुर्भुजी लक्ष्मी का अंकन।

पृष्ठभाग – दो पंक्तियों में नागरी लिपि में लेख – "(श्री) मद् वीरसिंहराम" का अंकन।

स्वर्ण रिंग (छल्ला) :

आकार : गोलाकार

वजन – 5.85 ग्राम

उपरोक्त सिक्कों के अध्ययन के क्रम में यहाँ इसी भांत के लखनऊ संग्रहालय में संग्रहित गोरखपुर से प्राप्त एक सिक्के से सम्बन्धित तथ्य उल्लेखनीय हैं। इस सिक्के के अग्रभाग पर चक्र–गदाधारी विष्णु का अंकन होने का अनुमान किया जाता रहा है, किन्तु मीराशी महोदय के अनुसार इस पर लक्ष्मी का अंकन है, विष्णु का नहीं। इसी प्रकार इसके पृष्ठभाग पर अंकित आलेख को जिसे वीरसिंहराम पढ़ा गया था, उन्होंने इसे वीरसिंहराय पढ़ा है तथा वह इसे नरवर (म.प्र.) के कच्छपघात शासक वीरसिंहदेव का सिक्का मानते हैं। किन्तु प्राप्ति–स्थान को देखते हुए परमेश्वरीलाल गुप्त महोदय ने मीराशी की इस पहचान पर सन्देह व्यक्त किया है तथा उन्होंने इसके प्रचलनकर्ता के सम्बन्ध में अपना कोई अनुमान नहीं लगा पाने का उल्लेख किया है।

इस प्रकार महाराजगंज से प्राप्त लक्ष्मी–भांत के इन तीन स्वर्ण सिक्कों के वजनमान एवं उनके पृष्ठभाग पर अंकित नागरी लिपि में शासक के नाम के आधार पर यह तो स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता है, कि इन स्वर्ण सिक्कों को जारी करने वाला शासक किस राजवंश का था। परन्तु इन सिक्कों से यह स्पष्ट है, कि इनके पृष्ठभाग पर आलेख में वीरसिंहराम ही अंकित है, न कि वीरसिंहराय। साथ ही इन स्वर्ण सिक्कों के पृष्ठभाग पर अंकित आलेख की नागरी लिपि के आधार पर इतनी सम्भावना भी अवश्य व्यक्त की जा सकती है, कि इन सिक्कों को जारी करने वाले इस शासक ने इन्हें लगभग 13वीं शताब्दी ई. में किसी समय प्रचलित किया होगा।

सन्दर्भ

- राज्य संग्रहालय, लखनऊ की निखात–निधि पं. सं. 111/258।
- रॉय, पी.सी. : 1980, दि कॉइनएज ऑफ नॉर्दन इण्डिया, नई दिल्ली।
- गुप्त, परमेश्वरीलाल : 2006 (तृतीय संस्करण), भारत के पूर्व–कालिक सिक्के, वाराणसी।

□□

"संग्रहालय : अतीत का माध्यम-भविष्य का शिक्षक"

ACQUISITION AND DISPLAY OF BUDDHIST SEALINGS FROM CHHOTI BADAUNI, DISTT. DATIA, IN ARCHAEOLOGICAL MUSEUM, GWALIOR.

J. Manuel*

Introduction

The region although does not boast of world renowned Buddhist sites, it nevertheless was not bereft of early sites that formed a part of the grand network of the proselytizing Buddhist Community across most part of the Indian sub-continent from about 200 years before the advent of the Common Era. The active functioning of the trade routes during Early Historic Period is reinforced by the Gujjara inscription in Datia district (Sircar in EI Vol XXXI: 205-209) which evidently was not inscribed in the wilderness. Other sites includes stupas dated to the Mauryan Period at Tumain, the ancient Tumbavana (Bajpai & Pandey 1985: 1-18) in the nearby District Ashoknagar, give evidence to the accessibility of this region to and from different parts of the country. Off and on the region around Datia Disrict has yielded evidence of Buddhism as late as 10th century CE. In this region farthest north, the remains of Kutwar, in District Morena which has yielded some architectural members datable to 1st 2nd century CE now reused in a modern temple and a charred ivory miniature stupa in the course of excavations are of note. Contiguous to Datia District, the Gwalior District has also yielded Buddhist remains as at Pawaya. It may not be out of context, here to mention the finding in Gwalior city, of a small figure of standing Buddha (Willis et.al. 2010: 3) carved out form spotted red sandstone typical of Mathura provenance which shows the links of this region further north. Pertinently, Shivpuri, the district south of Datia has also yielded Buddhist remains, namely a stupa of bricks dated to 9th-10th century CE reported from Rajapur (Patil, 1952 : 114) and an image of Buddha from Kota (Dwivedi 1997 : 601) presently displayed in the Gujari Mahal Museum, Gwalior.

Chhoti Budauni Finds

The site is about 2 km. south of Badauni, and has yielded three stupas (IAR 71-72 : 27) and many sealings with stupa figures in the center. The brief note in Indian Archaeology: A Review mentions that the radius of these stupas is about 16m, which is comparable with the great stupas of Sanchi and Satdhara in District Raisen- in as much as size is concerned. A large number of sealings of two sizes but with same text datable to sixth-seventh century AD were also

---

*Asstt. Supdtg Archaeologist, ASI, Archaeological Museum, Gwalior, 474008

reported from the site. From Badauni, typical Gupta pottery and a few pieces of Roman pottery were also reported. According to Dwivedi (1997 : 601) a Buddha image stuck within a tree was noted nearly 60 years back at Chhoti Badauni. He is of the opinion that around 7th -8th Cent AD, Buddhism thrived in the region of Badauni, which was uprooted later by the Shaivites in the centuries that followed. Nearly two decades back A.K. Sinha of the Archaeological Survey of India had visited the site and found stupas made of bricks with only outline discernible by the few extant courses. He also retrieved 2 sealings from the site, which evidently should be the larger type mentioned in the brief note in Indian Archaeology: A Review. A Recent visit by the aouthor in Feb 2011 with Mr Peter Skilling has revealed the fact that the site has further degenerated and now not even the outlines of the brick built stupas are traceable, although brick debris in heaps are seen at many spots in Chhoti Badauni. Not even a piece of a sealing could be collected from the site even after a conscious search for the same. Thus, considering the fact that a site like Chhoti Badauni with three stupas and many sealings has ceased to give any cogent evidence within forty years of it being reported, hints to the possibility that many structures, brick stupas and Buddhist shrines/sculptures may have been well put into reuse, failing none to prevent such utilization in the millennia that had passed by, accelerated much more conspicuously in the recent decades. This has raised the responsibilities of the museums to collect whatever data and material that is ethically possible at the earliest before the remaining material also perishes due to the developmental activities necessitated by burgeoning population.

Display of Sealings in Museum.

On Buddha Purnima Day, 25th May 2013, 12 sealings from Chhoti Badauni were displayed in the Archaeological Museum, Gwalior. Of this two are targer while the remaining are small. The two large sealings were given by Shri A.K. Sinha. The other 10 are part of the 40 received by the museum as gift by a local person after much cajoling. The sealings although much defaced and hardly legible yet hold significant information. Mr Peter Skilling international scholar in the field has described them as under.

1. LARGER SEALINGS

The two sealings are stamped with the text of dharanis. At the centre of the text is the image of a stupa. The text is written in Siddhamatraka script of about the 9th-10th century; it is, however much effaced and impossible to read. A dharani is a string of syllables to be recited or written down to protect and bless the donor and his family and circle of associates. In mediaeval Buddhism, the mass production of dharanis, believed to eradicate sin, purify, and protect, was very popular.

2. SMALLER SEALINGS

The small sealings have 8 lines of text in Siddhamatraka script with a single stupa in the middle. The stupa has a low drum and a bell-shaped body;it is topped by a tapering tier of parasols. The text is effaced; most probabily it is the "formula of causation", the ye dharma gatha. Sealings like these were stamped with moulds on clay as a ritual practice. Produced in large number, they were installed in stupas or other structures, which were then sealed. The practice brought spiritual merit for the producer and those to whom he or she dedicated the merit. The practice was widespread in Buddhist communities from about the fourth century CE in South, Southeast and Central Asia, and peaked during the 8th-11th centuries.

Concise matter of the above text and the photograph of the site has been inserted in the narration about the sealings of Chhoti Badauni, so that the visitors can get an overview about the displayed objects, namely, the sealings from Chhoti Badauni (fig1). Interestingly, if the different number of inscription lines of the text in the two types of sealings is a cue then the mention of same text in both types of sealings (IAR 71-72 : 27) is either not correct or else there should have been a third type of sealing other than that displayed in the museum, matching the text of either of the two.
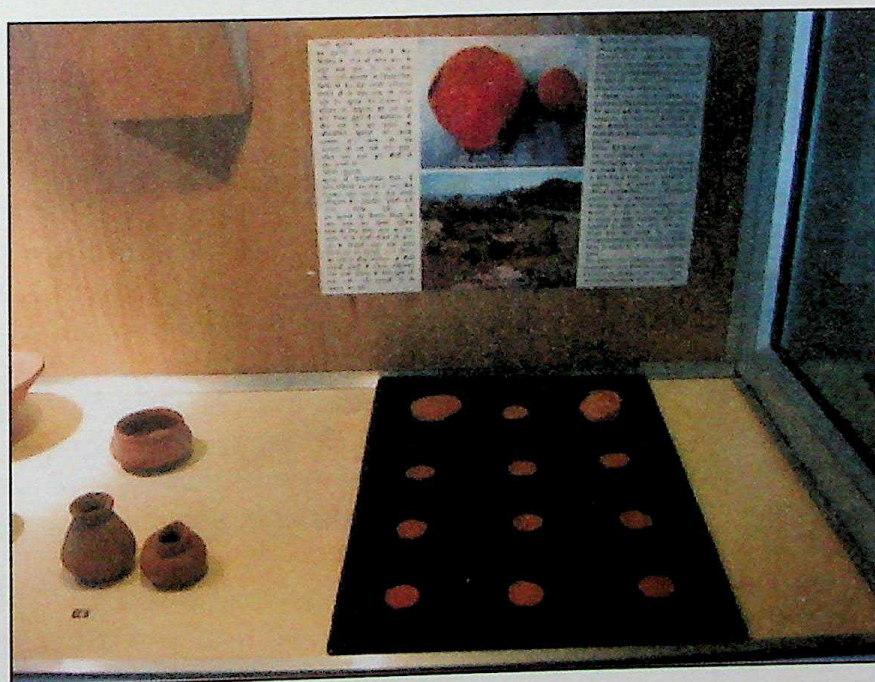
References

- Bajpai, K.D. & S.K. Pandey 1985 Excavations at Tumain. Directorate Archaeology and Museums, Bhopal. pp. 1-18.
- Dwivedi, H.N. 1997. Badauni May Diwakar Mitra Kay Ashram Ki Khoj (in Hindi) The Bounteous Tree (ed) Chakravarti, K.K. and Mishra O.P.,Sharda Publications, New Delhi p. 601.
- Indian Archaeology 1971-1972 : A Review p. 27
- Patil, D.R. 1952 The Descriptive and Classified List of Ancient Monuments in Madhya Bharat, Archaeological Department, Gwalior. P. 114.
- Sircar, D.C. Gujjara Inscriptions of Asoka. Epigraphia India. Vol. XXXI p. 205-209
- Willis, M., Pukhraj Maroo, Mishra, O.P., 2010 The Chambol Valley: A Heritage Treasure, Bookwell. New Delhi.p. 3

- Address J. MANUEL, Asstt. Archaeologist, ASI, Archaeological Museum, Gwalior, 474008
- E-mail ID manuelsmriti@gmail.com

- FIG-1 Display of sealings obtained from Chhoti Badauni with photograph of site and relevant description.

❐❐

Miniature images of Surya Sarvatobhadra in Khajuraho Museum : A Study

Rajendra Dehuri*

From time immortal Surya or sun god worshipped as is great energy provider as well as curative power to the living world. He is narrated in abstract and figurative form in different stages/period i.e in pre historic painting, chalcolithic pottery and obviously in Historical antiquities. The iconographic features of Surya is vividly narrated in Mastsya Purana, in which states that the image of sun god should be made as seated on a lotus with two hand holding two lotus flower.[1] The representation of Sun god in *sarvatobhadra* is very rare in Indian art. But at Khajuraho we have encounter with some *Surya sarvatobhadra*. Scholars like Devangana Desai interpret these iconographic edifices *Rabi pitha*[2]. In comparison to Orissan art depiction there is composite figure but no Surya sarvatobhadra image in small form as noticed in Khajuraho iconographic representation. In Indian tradition the use of such Sarvatobhadra in different rituals which correlate with cosmic symbolism of *Mandala or Vyuha*[3]. H. Brunner described sarbotobhadra as per structural elements of *mandala* which represents a combination of the square grid seen in the *bhadra-mandalas* and a rounded lotus shape on a throne in the centre. The lotus consist s of the pericarp (*Karnika*), filaments (*kesara*), Petals (*Patra, dala*) and the tips of the Petals (*dalagraha*). The throne has four feet (*Pada*) and four limbs or bodies (*gotra*) that is, side parts in the form of the bodies of men and animals.[4]

Sarvatobhadra means 'auspicious from all sides' and most likely refer to the symmetry of the mandala design. In literature it refers to bandha composition where as in architecture to denote a house with veranda all around and a type of temple. In town-planning the term refers to an ablong or square shaped town[5]. The four type *sarvatobhadra* explained in *Bhadramartanda* is versatile and having *bhadras* in application. It can be employed in all the religious observances (*vrata*), regardless of whether the principal deity is Vishnu, Siva or another deity. There are two types of *Suryabhadra* are described for use in *vratas* connected with the sun. Each one contains twelve images of the sun, twelve bearing the number that symbolizes the sun, since it corresponds to the twelve months of the year and the twelve zodiac signs. The two *bhadras* differ in the number of lines draw and in the way the icons are placed[6]. One such source may have been the

---

***Asstt. Superintending Archaeologist, ASI, Archaeological Museum, Khajuraho, Distt- Chhatarpur, (M.P.), Pin- 471606, E-Mail:dehurirajendra@gmail.com**

Isanasivagurudeva-paddhati by *Isanasivaguradevamisra*, an 11th-12th century *Saiva* manual of temple worshiped in four sections (*pada*). This text also describes different *mandalas* (circle) which included *Sarvatobhadra* type.[7]

However with view to the above basic discussion the five miniature image of Surya sarvatobhadra are analysis.

The antiquities details :-

The antiquity is measured as 49 × 49 × 69cm approximately and bearing accession number 1356. It is *tri-ratha* in plan and the *bhadra* projection has decorated with Surya images at four cordinal direction and top to it has decorated with two phase upraised lotus petal. In between the upraised petal decorated the outer circle; there is seated figure of Aswani Kumara's depicted with mace head type weapons. Just below to the lower series petal all four sides have decoration of different divinities and in respect to that one side decorated *Nabagraha* panel in which eight *Graha* has serially depicted but the Surya is absent because just below to the panel in the central projection recess has a standing Surya images. Aruna represent in small form between two legs of the main deity and either side flanked by Usha and Pratusha and attendant in side projections. In other side there is a reclining mother and child depicted with shampooing female attendant along few more attendants. This side is also Surya image depicted with attendants. The other side upper series of decoration are not identified where as god Surya represented as similar to the other *bhadra* projection (fig-1).

Fig - 1 (Acc no- 1356) Sarvatobhadra represent Navagraha panel at top and

Another Sarvatobhadra noticed is also *tri-ratha* in plan. It is measured as 50×50×74 cm approximately and bearing the accession number 1351. It has three circle of lotus petal depicted in upper part of the edifices. The centre petals are upraised where as the outer two circle are represent inverted type and separated through a circular band (fig-2). Just below to the outer lotus petal
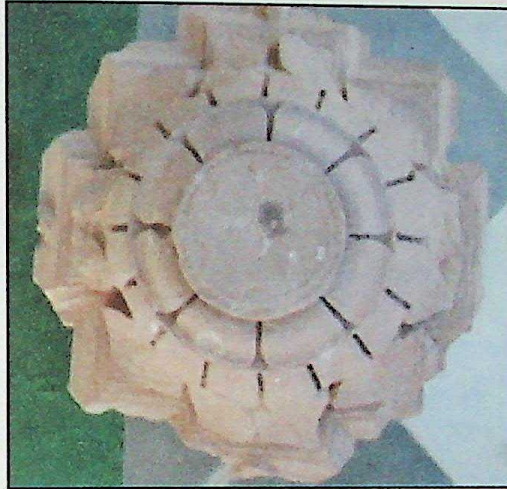
Fig - 2

decoration there is a *karnika* design separated the flower frings. Below to it and on bhadra projection has depicted surya image in seating position. He adorned with two lotuses in two upraised hands. There are three horses depicted below to the main deity and the small recess has separated with two pillar decoration. The side projection has depicted with eight door guardian in all direction. Base part of the edifice is plain temple type segment as *Bhita, Kumbha* and *kapota.* At *bhita* there is *chaita* window motif carved in four cardinal directions (fig.-3).

It is measured as 60×60× 120 cm approximately and bearing the accession number 1206. It is also constituted under *tri-ratha* plans and more height comparative to other *Sarvatobhadra* available in this series. Like other the top has decorated with four circles of lotus petal and having a circular top. Most of petals are decorated as inverted type and the last circle is damaged. The whole body of the *Sarvatabhadra* is divided and decorated in three segment Surya depiction so they counted twelve numbers which may represent the twelve month. Just below to the Lotus petal a *patti* decorated with *chaitya* window motif followed to diamond design is clearly noticed around the four faces. Further below there is decoration of standing images of Surya in small recess flanked by female deity aiming archer towards either side and they are identified with Usha and Pratusha. Similar type decoration also depicted on other three faces. Lower to the decoration another series of Surya images noticed in which the main deity Surya is depicted as standing position with all their attributes and flanked by Aswani Kumars. All three faces of the series also follow the similar decoration panel. Below to it there is segment of *Kapota* and *Karnika*. Further below there is a small recess on the central projection decorated with a small figure of Surya (fig-4). In totality there is twelve numbers of images of Surya

Fig - 3

Fig - 4

represent the cycle of solar energy in monthwise.

It is It is squares in plan and top adorn with eight petal lotus but partially broken now. Below to it diamond series decorated in its four faces. Just down to it there is a small niches in each faces decorated with seated Surya images. All images have represented two arms with lotus stalk in each. There is no representation of horse or attendants etc with these figures. The base part is divided as *Bhita*, *Kalasa* and *Karnika*. The antiquity bears the accession number 2251 and measure as 28×28×50cm approximately (fig-5).

Fig - 5

This Sarvatobhadra decoration is divided into two segments besides the top lotus petal decoration. It is bearing accession number 2074 and metric measurement 33×33×60cm approximately. The lotus is segmented in three layer but the last upraised petals are borken. Below to it, a plane *bandhana* (band) type design decorated all around. Like few other it is executed in *tri-ratha* plan and the body adorned with two phase image decoration. The upper part Surya images are depicted all cardinal directions along with attendants. All depictions of the series are arranged in seating position. The main deity is holding lotus stalk in their two hands and Aruna is depicted just in front to leg. The attendants are depicted as in pot belly. The lower image series are decorted as standing image of lord Surya with Aruna. He holds two lotuses in his hands and attendants depicted either side of the image in the second projection which is separated with a pillar decortion. The attendant hold staff and mace head in their hands identified as Dandi and Pingala. The base is no decorative motives and divided as *Bhitta*, *Kumbha* and *Kapota* segments (fig-6).

Fig - 6

Discussion

There are only five Surya Sarvatobhadra panel reported so far from khajuraho, which was undoubtedly related to Saura cult prevailed at that time. There is *Chitragupta* temple dedicated to Surya worship. besides that there are number of Surya images traced at Khajuraho temple wall and associated with other goddess in *Panchayatana* worship process. Most of sculptures in the Sarvatobhadra are of small in nature but in delicate form of execution. The association with eight door guardian, reclining mother and child, Aswani kumar's and concert Usha and Pratusha is provide religious significance of the Saura cult. All these decoration depicted on four surface of the sarbotobhadra and each face has represent Surya in different form like the twelve sun represents in the months of Hindu calendar year and four figure represent the day circle. The finding are very less in number not because of less popularity of the cult but is also due to very rare kind of execution with the help of *Mandala* and *Tantra*. The Sarvotobhadra are althouth not unique in shape and size and found differences in execution of images with association to some Brahmanical deities, and the top adorned lotus of variant petal number as per *mandala* required. All these antiquities are presently located at museum and selected for exhibition at New museum building at Khajuraho itself. It is describe that khajuraho's sun worship must have been Tantric- Vedic and the play *probhodhachandradaya* also mention about Sauras cult[8] which strongly support by these evidences.

Acknowledgement - I am thankful to Sri Manual Joseph sir Assistant Superintending Archaeologist, Gwalior museum for as source of inspiration and motivate me to write about the antiquities. I am thankful to Sri Sanjay Yadav for his help during study. It is due thanks to Sri R.N. Singh U.D.C (incharge of Library, Archaeological museum, Khajuraho) for his necessary help during the work.

Reference

1. Mastsya Purana. (Lakshmi Venkat, ed. Bombay) p. 94.
2. Desai. D 1996 The Religious imagery of Khajuraho, Franco-Indian Research Pvt. Ltd. Mumbai, p-77.
3. Buhnemann. G 2003 Mandalas and Yantras in the Hindu traditions. Brill Indological library edited by Johannes Bronkhorst at el. Vol-18, pp. 1-4
4. Ibid. p- 25.

5. Birhat-Samhita 53.31, 56.18, 56.27.

6. Ibid. Buhnemann, G p- 76-77.

7. Ibid. p-83.

8. Desai, D. p-72.

❑❑

शुंगकालीन कला में कल्पवृक्ष एवं कल्पलता

डा. अनिल कुमार सिंह*

प्राचीन काल से वृक्ष का मानव जीवन तथा प्राकृतिक संतुलन में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वेद एवं वेदोत्तर साहित्यों में कई जगह वृक्ष वन्दना की सूचना प्राप्त होती है। वृक्ष प्रतिनियत पंचयज्ञ में लगे हुये हैं। वृक्ष के द्वारा भोजन, औषधि, छाया, घोषला (पक्षियों के लिए) तथा ईंधन प्राप्त होता है। इसीलिए वृक्षों के विशेषण के रूप में रोगी तरू, अग्निहोत्री तथा पंचयज्ञकारी आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। यह अवधारणा वेद के पूर्व काल में भी देखने को मिलती है। सैन्धव कालीन मुहरों तथा मृदभाण्डों का गहन अध्ययन करने से यह प्रतीत होता है कि उस समय के जनजीवन में भी वृक्ष पूजा प्रचलित थी। सैन्धव काल में विशेष रूप से अश्वत्थ अधिष्ठात्री देवी की पूजा परम्परा रही होगी। वृक्ष में भूत–प्रेत, वृक्षिका, गर्न्धव–किन्नर तथा परमब्रह्म वास करते हैं।[1] वृक्षों के द्वारा रोग दूर करने का उल्लेख ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा अमरकोष नामक ग्रन्थों में हुआ है।[2] अशोक, अश्वत्थ, बिल्ब, उदुम्बर, तुलसी तथा केतकी को रोगी तरू भी कहा गया है।[3]

वृक्ष प्रदूषण मुक्त स्वच्छ पर्यावरण, वर्षा तथा प्राकृतिक सन्तुलन बनाये रखने में सहायक होता है। वृक्ष की इन विशेषताओं को ध्यान में रखकर ही प्राचीन भारतीय मनीषियों ने इसका सम्बन्ध धर्म से जोड़ दिया। जिससे वृक्ष के प्रति लोगों का आकर्षण, वृक्षारोपण इसका बचाव तथा काटने पर प्रतिबंध लग सके। ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित देवों में शिव का सम्बन्ध वट, विष्णु का अश्वत्थ, सूर्य का कमल तथा दुर्गा के नौ रूपों का सम्बन्ध नवपत्रिका से है। जैन धर्म के 24 तीर्थंकरों का सम्बन्धित 24 वृक्षों से है। इनमें ऋषभ का सम्बन्ध न्यग्रोध, अजितनाथ का सप्तपर्ण, मल्लिनाथ का अशोक तथा महावीर स्वामी का सम्बन्ध शाल वृक्ष से है। बौद्ध धर्म में बोधि वृक्ष (अश्वत्थ या पीपल) का महत्वपूर्ण स्थान है। ध्यानी बुद्धों का सम्बन्ध भी भिन्न–भिन्न वृक्षों से है। शाक्यमुनि से सम्बन्धित अश्वत्थ, कश्यप से सम्बन्धित न्यग्रोध, कनकमुनि से सम्बोधित उदुम्बर, विपस्वी से सम्बन्धित अशोक तथा विश्वभू से सम्बन्धित शाल वृक्ष है। इनके अतिरिक्त यक्ष–यज्ञी तथा व्यन्तर देवताओं का सम्बन्ध भी विभिन्न वृक्षों से बताया गया है। मनुस्मृति तथा अन्य ग्रन्थों में वृक्ष काटने पर प्रतिबंध तथा जुर्माना का उल्लेख मिलता है। मानव समाज के लिए विभिन्न प्रकार के उपकारी वृक्षों को ध्यान में रखते हुये उत्तर काल में कल्पवृक्ष एवं कल्पलता के चिन्तन का प्रादुर्भाव हुआ।

कल्पवृक्ष को कल्पद्रुम, कल्पतरू, देवतरू तथा कामदुध भी कहा गया है।[4] कल्प का अर्थ चिन्तन, विचार या मन है। तरू तथा द्रुम का अर्थ वृक्ष है। कला में कल्पवृक्ष के अतिरिक्त कल्पलता तथा कल्पवल्ली का अंकन भी मिलता है। कल्पवृक्ष मनुष्य की हर इच्छा को पूर्ण करने वाला वृक्ष हैं इसके नीचे मनुष्य जो सोचता है वह उसे मिल जाता है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में कहा गया है कि समुद्र मंथन के समय कल्पवृक्ष का जन्म समुद्र से हुआ। इसके बाद उस वृक्ष को इन्द्र ने स्वर्ग के नन्दन कानन में स्थापित कर दिया।[5] स्वर्ग में कल्पवृक्ष लगाने के बाद उसमें देवों का निवास हो

*असिस्टेन्ट क्यूरेटर, भारत कला भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

गया। हिन्दू ग्रन्थों में इसे स्वर्ग का वृक्ष माना गया है। जो सम्भवतः एक वटवृक्ष रहा होगा।

महावाणिज जातक में उत्तर कुरू प्रदेश के एक न्यग्रोध वृक्ष का वर्णन है। जिसकी पूर्वी शाखा से सभी प्रकार के पेय पदार्थ, दक्षिणी शाखा से विभिन्न प्रकार के भोजन, पश्चिमी शाखा से वस्त्र आभूषण से अलंकृत सुन्दर स्त्रियाँ तथा उत्तरी शाखा से स्वर्ण, रजत, रत्न तथा वस्त्र प्राप्त करने का उल्लेख है।[6] फाउसबाउल जातक में भी इस पवित्र वृक्ष के गुणों का वर्णन किया गया है।[7] रामायण में उत्तर दिशा में स्थित उत्तर कुरू देश के वृक्ष द्वारा विभिन्न प्रकार के वस्त्र आभूषण, पेय तथा भोज्य पदार्थ और गुणवान रूपवती यौवन से युक्त स्त्रियाँ प्रदान करने का उल्लेख है।[8] महाभारत में उत्तर कुरू प्रदेश को उत्तर दिशा में मेरू पर्वत के समीप बताया गया है। वहाँ पर सभी मनोकामनाओं की पूर्ति करने वाले वृक्ष द्वारा वस्त्र, अलंकरण एवं मिथुन उत्पन्न होने का उल्लेख है।[9] वायु पुराण में उत्तर कुरू की चर्चा की गयी है, जहाँ शतसहस्त्र, कल्पवृक्षों से विभिन्न प्रकार के वाद्य यन्त्र, वस्त्र, भोजना सामग्री, प्रसाधन सामग्री तथा शयनासन उत्पन्न होने का वर्णन है।[10] भागवतों ने कल्पवृक्ष की कल्पना स्वर्ग के वृक्ष में की और इसका विस्तार पारिजात पुष्प की कथा में किया। कालान्तर में कालिदास ने यक्षों की अलकापुरी में होने वाले कल्पवृक्षों का मनोरम वर्णन किया है।[11] बाणभट्ट की कादम्बरी में भी कल्पलता का उल्लेख मिलता है।[12] उत्तर कुरू के कल्पवृक्षों की कल्पना प्राचीन काल से मध्य काल तक साहित्य और कला दोनों में अभिव्यक्त की गयी है और यह लोकधर्म का भी अंग रही है। कल्पवृक्ष की तुलना घर से की गयी है। कल्पवृक्ष से अलंकरण उत्पन्न करने वाली शाखा को माता कहा गया है। जिस रस के कारण वृक्ष में शाखा निकलती है, उसे भ्राता तथा जिस तत्व से अलकतक (आलता) निकलता है, उसे स्त्री कहा गया है। मद्य उत्पन्न करने वाली शाखा को स्वामी कहा गया है।[13] एक कथा के अनुसार वैदिक युग में नाक, बौद्ध युग में सुखावती एवं उत्तर कुरू प्रान्त में दुःख की छाया नहीं दिखाई देती है। जैन साहित्य तिलोयपण्णति में दस प्रकार के कल्पवृक्ष का उल्लेख है। ये निम्न हैं– मद्यांग, तूर्यांग, भूषणांग, भोजनांग, वस्त्रांग, आलयांग, दीपांग, भाजनांग, मालांग तथा तेजांग।[14]

कल्पवृक्ष प्राचीन भारत की कला में मानव के अनन्त भौतिक मनोरथों अथवा मधुर और उन्मत्त अभिलाषाओं के प्रतीकीकरण के लिए प्रयुक्त हुआ है। साहित्यिक वर्णन के अनुरूप कल्पवृक्ष का अंकन शिल्प में प्राप्त होता है। भरहुत, भाजा, बोधगया, साँची, बेसनगर तथा चौसा नामक स्थानों पर शुंग कालीन कल्पवृक्ष तथा कल्पलाओं का अंकन मिलता है। उत्तरकुरू के कल्पवृक्षों का जैसा वर्णन है ठीक वैसा ही भरहुत में उनका चित्रण हैं भरहुत स्तूप के अलंकरण की सर्वाधिक विशेषता कल्पलाओं का अंकन है। स्तूप के उष्णीष पर बाहर तथा अन्दर की तरफ कल्पवृक्ष तथा कल्पलताओं का अंकन किया गया है। कलाकारों ने घुमावदार कल्पलताओं के माध्यम से विभिन्न प्रकार की वस्तुओं वस्त्र, आभूषण, पेय पदार्थ, भोज्य पदार्थ तथा अन्य का अंकन करके इच्छाओं की पूर्ति करने वाली स्वर्गिक कल्पलता को व्यक्त किया है, जिसके किसलय पुरुष एवं स्त्री के मिथुन पैदा करके सभी प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति करते हैं। मिथुन के ये प्रतीक स्तूप से चलकर हिन्दू मन्दिरों में पहुँच गये।

भरहुत में एक कल्पवृक्ष का अंकन बड़ी सुन्दरता से किया गया है। कल्पवृक्ष से दो मानव हाथ बाहर निकले हुए दिखाये गये है। वृक्ष के एक हाथ से जलपात्र (कमण्डलनुमा) है, जिससे सामने बैठा हुआ व्यक्ति अपने हाथ में जल प्राप्त कर रहा है। वृक्ष से निकले हुये दूसरे हाथ में भोजन सामग्री से भरा हुआ कटोरा है। उसके सामने एक व्यक्ति को दाहिने हाथ में दूसरी तरह का जलपात्र लेकर वापस लौटते हुये दिखाया गया है। इससे ऐसा लगता है कि भूखे तथा प्यासे व्यक्ति ने कल्पवृक्ष से जल तथा भोजन प्राप्त किया। इस प्रकार कल्पवृक्ष द्वारा पेय तथा खाद्य पदार्थ प्रदान करने की कथा का अंकन भरहुत शिल्प में अच्छी तरह उत्कीर्ण किया गया है कल्पवृक्ष दृश्य के दाहिनी तरफ कल्पलता से लटकती हुई धोती तथा मेखला का अंकन किया गया है। भरहुत शिल्प का यह कल्पवृक्ष व कल्पलता दृश्य भारतीय संग्रहालय कलकत्ता में संग्रहित है।[15] (चित्र–1)

भरहुत की कल्पलता में एक जगह हाथी के खूंटीनुमा मुख, नागदन्त तथा सूँड़ से मुक्ताजाल, मेखला और नूपुर लटकते हुए प्रदर्शित किये गये हैं।[16] यहाँ की कल्पलताओं से विभिन्न प्रकार के आभूषण लटकते हुये दिखाये गये हैं। जैसे–प्राकारवकुण्डल, त्रिरत्न की आकृति के कर्णाभूषण, कान के फुल्ले, चौड़ा जड़ाऊ कंठा, चार तथा छः लड़ों का हार, विभिन्न प्रकार की माला, मोतियों का तिलड़ा हार, दोहरे त्रिरत्नों का हार पदक, कई लड़ियों की मेखला, हाथों के कड़े, हाथों में पहनने की गूँजे, कई घेर वाले नुपूर, भुजबन्द या केयूर। आभूषणों के अतिरिक्त कल्पलताओं के मध य में विभिन्न प्रकार के वस्त्रों का अंकन भी किया गया है, जिनमें पुष्पपट्ट भाँति के उत्तरीय, धोती तथा शटिकायें मुख्य हैं। (चित्र–2) भरहुत की कल्पलताओं में कटहल, आम, सीताफल तथा खजूर फल का अंकन भी मिलता है।[17] शुंगकालीन कला केन्द्रों में कल्पवृक्ष तथा कल्पलताओं का सबसे सुन्दर अंकन भरहुत में ही हुआ है। भरहुत के अर्धचित्र में जो मूर्तियाँ अंकित की गयी है; उनमें गतिशीलता और छन्द का अभाव देखने को मिलता है। इस अभाव को आंशिक रूप से दूर करने का प्रयास कल्पलता के माध्यम से किया गया है, जहाँ कल्पलता को एक छन्द में आबद्ध करके दिखाया गया है।

चित्र–1

शुंगकालीन कला केन्द्र भाजा के विहार के दाहिनी तरफ विशालकाय हाथी पर एक राजा और उसके पीछे ध्वज लिये हुये अनुचर हैं। हाथी द्वारा अपनी उठी हुई सूँड़ से एक वृक्ष को उखाड़ कर लिये हुये दिखाया गया है। पट्ट के शेष भाग में वेदिकाओं में कुछ वृक्ष उत्कीर्ण हैं। एक वृक्ष से मिथुन मूर्तियाँ जन्म ले रही हैं। वृक्ष के नीचे बैठे हुये मिथुर वाद्य
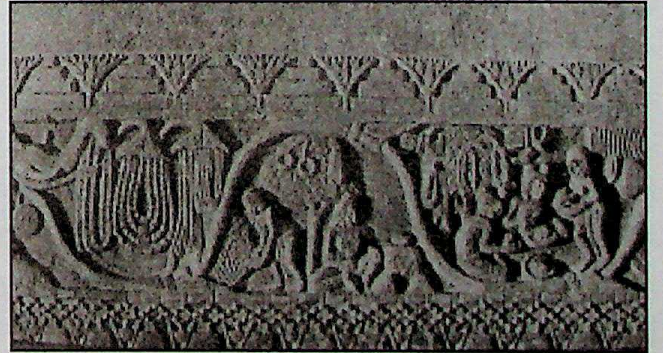
चित्र–2

और नृत्य का आनन्द ले रहे हैं। कुमार स्वामी ने बड़ी पुरुष मूर्ति की पहचान ऐरावत पर सवार इन्द्र से की है। किन्तु वासुदेव शरण अग्रवाल ने इन्हें सम्राट मान्धाता माना है, जो उत्तर कुरू की पाँच रक्षा पंक्तियों को जीत कर उसके उद्यान में पहुँचकर स्वच्छन्द उपभोग करने लगे। वहीं के कल्पवृक्षों के कुछ दृश्य यहाँ अंकित हैं। प्रस्तुत चित्र में नीचे की ओर बीच में उत्कीर्ण कल्पवृक्ष एक प्रकार का आभरण वृक्ष है, जिसकी शाखाओं में मेखला, मोतियों का हार, नूपुर, प्राकारवप्रकुण्डल (?) तथा वस्त्र लटक रहे हैं। दाहिनी ओर जो बैठे हुये स्त्री–पुरुष संगीत में निरत हैं, वे उत्तरकुरू के सुखी निवासी देव और देवकान्यायें हैं। ऊपर वेदिका में एक वृक्ष स्त्री–पुरुषों के मिथुन को जन्म लेते हुये दिखाया गया है। वृक्ष के ऊपर एक स्त्री मूर्ति शयन मुद्रा में आड़ी लेटी हुई है। यद्यपि उत्तरकुरू के कल्पवृक्ष और कल्पलताओं का अंकन भरहुत, साँची और बोधगया कला केन्द्रों में भी मिलता है किन्तु भाजा विहार में उत्तरकुरू के प्रधान नगर सुदर्शन को प्रतापी मान्धाता द्वारा विजित किये जाने का जैसा भव्य अंकन है, उसकी उपमा अन्यत्र नहीं है।[18]

बोधगया के शुंगकालीन अष्टांसिक स्तम्भों के सँकरे कोनों पर कल्पवृक्ष के साथ मिथुन और आभूषण उत्कीर्ण किये गये हैं। स्तम्भों के अग्र भाग एवं पृष्ठ भाग में कल्पवृक्ष, मिथुन और पुष्पाभरणों की प्रसव सम्प्रदा को अलग–अलग भी दिखाया गया है। आभूषणों में मोतियों की कई लड़ की माला, मेखला तथा धोती को स्तम्भों के कोनों तथा अग्र व पृष्ठ भाग से लटकते हुए प्रदर्शित किया गया है।[19]

बोधगया के शिल्प में भी शुंग काल का एक कल्पवृक्ष प्राप्त हुआ है। जिसमें वृक्ष देवता के दो हाथ बाहर निकले हुए हैं। वृक्ष के एक हाथ द्वारा जलपात्र से जल देने का दृश्य है, जबकि दूसरे हाथ में थाली है, जिसमें भोजन सामग्री भरी हुई है। (चित्र–3) इसके सामने एक व्यक्ति को खड़ा दिखाया गया है, जो कल्पवृक्ष से भोजन तथा पानी प्राप्त करने के लिए अपना हाथ आगे बढ़ाया है।[20] कल्पवृक्ष द्वारा भोजन और पानी देने का दृश्य भरहुत शिल्प में भी उत्कीर्ण है किन्तु कुछ अन्तर है। भरहुत में भोजन सामग्री कटोरे में है तथा भोजन और पानी ग्रहण करने के लिए दो व्यक्तियों का अंकन है।

सांची में भी कल्पवृक्ष तथा कल्पलता का अंकन मिलता है। महावाणिज जातक, रामायण तथा महाभारत के विवरण के अनुरूप साँची में उत्तर कुरू के दृश्य उत्कीर्ण किये गये हैं। कल्पवृक्ष की छाया में मिथुनों को पान गोष्ठी, संगीत तथा नृत्य गीत का आनन्द लेते हुये प्रदर्शित किया गया है। भरहुत की तरह साँची में भी कल्पलताओं का अंकन है। जिनमें वस्त्र, आभूषण, वाद्ययन्त्र, मिथुन के दृश्य उत्कीर्ण हैं। साँची के दक्षिणी प्रवेश द्वार के निचले भाग में तुंदिल आकार के बौने जिसके सिर बड़े तथा पैर छोटे हैं (कुम्भकुण्ड) का अंकन है, जिसके मुख से कल्पलता निकलती हुई दिखायी गयी है। सभी छः कुम्भाण्ड आकृतियाँ कई लड़ियों की मोती का हार हाथ में

चित्र–3

लिए हैं। छः पदक लगी हुई दो सिकड़ियों के अंतिरिक्त हार का अंकन भी है।[21] साँची के दक्षिणी प्रवेश द्वार के पश्चिमी स्तम्भ के पश्चिमी मुख पर लहरदार कल्पलता के मोड़ में तीन दृश्य हैं। कल्पलताओं से वस्त्र और आभूषण एवं तीन मिथुन जन्म लेते हुए दिखाये गये हैं। इस कल्पलता के निचले भाग में मिथुन या स्त्री–पुरुष बैठे हैं। जिनके चारों ओर पुष्प, फल, पशु तथा पक्षी चित्रित हैं। मिथुन मूर्ति में पुरुष वीणा बजा रहा है, जबकि स्त्री अपने हाथों में मांगलिक चिह्नों से बना हुआ कठुला लिए है। ऐसा हार अशुभ निवारण का सूचक था और विशेषतः उत्तरकुरू का प्रतीक समझा जाता था।[22] स्त्री मूर्ति के सामने दो नुपूर हैं। नुपूर के ऊपर चौड़ा जड़ाऊ कंठा तथा कई लड़ियों की मोती का हार है। अन्य दो दृश्यों में भी कई लड़ियों की मोती का हार, मेखला त्रिरत्न भाँति का कर्णाभूषण तथा वस्त्रों का अंकन किया गया है।[23] (चित्र–4) सांची के स्तूप संख्या 2 के एक स्तम्भ पर भी कल्पलता से लटकते हुये हार, माला तथा अन्य आभूषणों का अंकन मिलता है।[24] इसके अतिरिक्त सांची के स्तूप संख्या 2 के अन्य स्तम्भों तथा पूर्वी प्रवेश द्वार के स्तम्भ पर मगरमच्छ, कछुआ, यक्ष तथा हाथी के मुख से बलखाती कमल लता निकलती हुई अंकित की गयी है। इसमे मध्य हंस, सारस, तोते, हिरन नामक पशु–पक्षी के अतिरिक्त पुष्प, फल तथा सुन्दर लताओं का अंकन भी मिलता है।[25]

चित्र–4

बेसनगर (विदिशा) से प्राप्त द्वितीय सदी ई.पू. का कल्पवृक्ष शुंगकालीन शिल्प का अनुपम उदाहरण है। इस समय यह भारतीय संग्रहालय कलकत्ता के संग्रह में है। वृक्ष की शाखाओं के नीचे थैले और मंगल घट सिक्के से उफनाते (आकण्ठ भरे) हुए प्रदर्शित हैं। जिनसे सिक्के नीचे गिर रहे हैं। इसके अतिरिक्त कल्पवृक्ष से वस्त्र तथा आभूषण भी लटकते हुये दिखाये गये हैं। इस कल्पवृक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी कल्पवृक्ष से सिक्के गिरते हुये नहीं दिखाये गये है। जितेन्द्र नाथ बनर्जी के मतानुसार यह कुबेर वैश्रवण के देव सदन के समक्ष ध्वज स्तम्भ से युक्त रहा होगा अथवा मार्कण्डेय पुराण में वर्णित पद्मिनी विद्या की अधिष्ठात्री श्री लक्ष्मी के प्रतिमा सदन के सामने स्थापित किया गया होगा।[26] इसे विशाल न्यग्रोध वृक्ष (वटवृक्ष) के रूप में पहचाना जा सकता है। जिससे उपरोक्त वस्तुयें लटक रही हैं।

बिहार के बक्सर जनपद के चौसा नामक स्थान से कांस्य निर्मित कल्पवृक्ष प्राप्त हुआ है। द्वितीय सदी ई.पू. का शुंगकालीन यह कल्पवृक्ष इस समय पटना संग्रहालय में सुरक्षित हैं।[27] यह अशोक वृक्ष की भाँति है, जिसमें से आठ शाखायें निकली हैं। इस वृक्ष के बिल्कुल ऊपर एक स्त्री को भरा हुआ कटोरा लेकर बैठे हुये

प्रदर्शित किया गया है। वृक्ष की पत्तियों को सुन्दरता से नीचे लटकते हुये दिखाया गया है। सम्भवतः भारतीय कला में धातु से निर्मित कल्पवृक्ष का यह प्रारम्भिक उदाहरण है। (चित्र–5)

चित्र–5

भारतीय कला में शुंग काल के पहले कल्पवृक्ष तथा कल्पलता का अंकन नहीं मिलता है। किन्तु इसकी अवधारणा जनमानस में अवश्य थी, वरना शुंगकालीन बौद्ध स्तूप, वेदिका और विहार में इतनी अधिक मात्रा में कल्पलता नहीं देखने को मिलती। ऐसा लगता है कि कल्पवृक्ष की अवधारणा शुंगकाल के पूर्व थी किन्तु अंकन नहीं था। शुंग कालीन कला में कल्पवृक्ष एवं कल्पलता को काफी महत्व दिया गया है। कल्पवृक्ष की अवधारण शुंग काल तक ही सीमित नहीं थी बल्कि इसकी अवधारणा मध्य काल तक बनी रही। क्योंकि मध्यकालीन मन्दिरों के ऊपर भी कल्पलता का अंकन मिलता है। यह कहना शायद असत्य नहीं होगा कि कल्पवृक्ष की अवधारणा आज भी भारतीय चिन्तन में जीवित है।
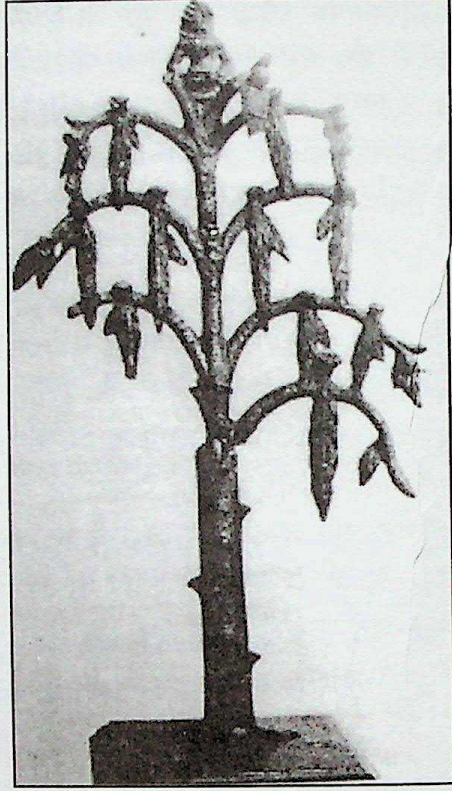
संदर्भ

1. महाभारत, वन पर्व, 227, अथर्ववेद, 4.32.4: मुण्डक उपनिषद 3.1.1
2. ऋग्वेद X. 97: अथर्ववेद संहिता, VI.96, VIII.7: सिन्हा, वी.सी., ट्री वर्शिप इन एन्सिएण्ट इण्डिया, 1979, पृ. –17.
3. मल्ल, बंशीलाल, ट्रीज इन इण्डियन आर्ट माइथोलॉजी एण्ड फोल्कलोर, 2000, पृ. 83–87
4. अग्रवाल, वी. एस, कल्पवृक्ष–दि विश फुलफिलिंग ट्री, जर्नल ऑफ दि इण्डियन सोसायटी ऑफ ओरियन्टल आर्ट, वाल्यूम XI. 1943, पृ. 2
5. विष्णु पुराण, 1.9.95
6. महावाणिज जातक, 493.352
7. वारिदा पुरिमा साखा अन्नपानश्च दक्खिणा। नारिदा पश्चिमा साखा सब्बकामे च उत्तरा।। फाउसबाउल जातक, 4.362
8. रामायण, किष्किन्धा काण्ड, अ.43
9. महाभारत, भीष्म पर्व, 7.2.11
10. वायु पुराण, भुवन कोष, 45,11–50
11. मेघदूत, 2.11

12. कादम्बरी, वैद्य संस्करण पृ.–186
13. विश्वास टी.के., कल्पवृक्ष, युगान्तर (बंग्ला भाषा) कलकत्ता, 17 मार्च, 1968
14. तिलोयपण्णति, 1.4
15. कनिंघम, स्तूप ऑफ भरहुत, पृ. 98: बरूआ, बी.एम. भरहुत, पुस्तक II, पृ.–162, पुस्तक–III, प्लेट–XCI, चित्र–140
16. बरूआ, बी.एम., भरहुत, प्लेट–XII, चित्र–9
17. कनिंघम, अलेक्जेन्डर, भरहुत, प्लेट XXX:X-LI; बरूआ, बी.एम., भरहुत, प्लेट–XII,XIV,XXIV,XXV; काला एस. सी, भरहुत वेदिका, प्लेट–7
18. अग्रवाल, वासुदेव शरण, भारतीय कला, 1977, पृ. 201–202; जिमर एच., आर्ट ऑफ इण्डियन एशिया वाल्यूम–प्प, 1955, प्लेट–42
19. अग्रवाल, वासुदेगव शरण, भारतीय कला, 1977, पृ.–184, चित्र–287: कुमारस्वामी, ए.के.ला स्कल्पचर डे बोधगया एआरएस एसियाटिका, प्लेट–XVI
20. बरूआ, बी.एम., गया एण्ड बोधगया, वाल्यूम–II, पुस्तक–II, 1943, चित्र–75
21. मार्शल, सर जॉन, एण्ड फूशे अल्फ्रेड, दिन मानुमेन्ट्स ऑफ साँची, वाल्यूम–II, प्लेट–XI-3
22. अग्रवाल, वासुदेव शरण, भारतीय कला, 1977, पृ.–167
23. मार्शल सर जॉन एण्ड फूशे अल्फ्रेड, दि मानुमेन्ट्स ऑफ साँची, वाल्यूम–II प्लेट–XIX
24. मार्शल सर जॉन एण्ड फूशे अल्फ्रेड, दि मानुमेन्ट्स ऑफ साँची, वाल्यूम–III प्लेट–LXXV
25. मार्शल सर जॉन एण्ड फूशे अल्फ्रेड, दि मानुमेन्ट्स ऑफ साँची, वाल्यूम–II प्लेट–L सीए वाल्यूम–III प्लेट LXXVIII-23A, LXXXII- 44A
26. बनर्जी, जे.एन., दि डिवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी पृ. 104–105
27. अख्तर नसीम, पटना म्यूजियम कैटलॉग–टेराकोटा एण्ड मेटल इमजेज, 2001, पृ.–168, प्लेट XV

□□

"Museum : Save Our Cultural Heritage"

बौद्ध देवी मारिची

पतरू,*

गुप्तोत्तर काल में बौद्ध धर्म के महायान शाखा द्वारा अपने मतों एवं सिद्धान्तों के प्रचार–प्रसार में तत्कालीन समाज में मौजूद अन्य मतो एवं सिद्धान्तों से संघर्ष हुआ और विजय प्राप्त करने के लिए अन्य मतों के रूढ़िवादी तांत्रिक सिद्धान्तों को ग्रहण कर लिया, जिसके परिणाम स्वरूप वज्रयान का उदय हुआ और हिन्दू देव समूह के समानान्तर अनेक नवीन देवी देवताओं की अवधारणा को विकसित कर लिया और इस प्रकार बौद्धधर्म में बहुदेववाद की अन्धी दौड़ शुरू हो गयी।[1]

बौद्ध धर्म के वज्रयान शाखा ने कहीं न कहीं प्राकृतिक तत्वों का प्रतीकात्मक रूप से मानवीय स्वरूप देते हुए पूजा प्रारम्भ किया जैसे कि पंचध्यानी बुद्ध ये प्रकृति के पांच प्रमुख तत्व है। (वैराचन–आकाश, अक्षोभ्य–वायु, रत्नसम्भव–अग्नि, अमिताभ–जल, अमोधसिद्धी–पृथ्वी है। आर.एस. गुप्ते पंचध्यानी बुद्ध को रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के रूप में स्वीकार करते हैं,[2] जिनके संयोग और वियोग का प्रतिफल सृष्टि हैं। वज्रयान शाखा ने देव जगत के साथ देवी जगत का भी विधान किया जैसे तारा, मंजूश्री प्रज्ञापारमिता, हारिति और मारिची आदि। बौद्ध धर्म में कुछ नवीन प्रयोग मूर्तिकला के क्षेत्र में देखे गए जैसे यम, यमी, की संयुक्त शक्ति को मूर्त रूप दिया गया।[3]

मारिची का उद्‌भव हिन्दू परम्परा, इरानी देव समूह और आर्य परम्परा के सम्मिलित प्रयासों के परिणाम स्वरूप हुआ।[4] बौद्ध धर्म के वज्रयान शाखा में मारिची को प्रकाश की देवी के रूप में जाना जाता है। जिस प्रकार सूर्य देवता सात अश्वों पर आरूढ़ है, उसी प्रकार मारिची भी कमल पर आसीन है और सात शुकरों द्वारा उसे रथ के समान खींचा जा रहा है। मारिची को कभी–कभी तीन, पांच या छः मुख और दो, छः, आठ, दस या बारह भुजाओं युक्त त्रिनेत्र के साथ चित्रित किया गया है। वज्रयान देवि समूह के अन्तर्गत मारिची को आर्य मारिची के नाम से भी जानते हैं जिसकी पहचान यह है कि दाहिने हाथ में सुई बाएं हाथ में रस्सी लिए हुए होती है।[5] इसका वाहन शुकर रंग–पाण्डु (पीला) और दो हाथ है।[6]

पाँच ध्यानी बुद्ध अमिताभ, अक्षोभ्य, वैरोचन, अमोधसिद्धी और रत्नसम्भव में से मारिची का सम्बन्ध ध्यानी बुद्ध वैरोचन से हैं। वैरोचन का प्रतिनिधि–आकाश, रंग–श्वेत और वाहन–सर्प है। कुछ प्रतिमाशास्त्री वैरोचन का बोधिसत्व सामन्त भद्र को एवं बुद्ध शक्ति वज्रध्वातिश्वरी को मानते हैं, जबकि मारूतिनन्दन तिवारी ने वैरोचन की बुद्ध शक्ति का नाम लोचन बताया है।[7] वैरोचन परिवार में मारिची महत्वपूर्ण देवी हैं जिसके तीन अलग–अलग नाम एवं लक्षण मिलता है। जिनका विवरण निम्नलिखित प्रकार से है–[8]

---

*संग्रहालयाध्यक्ष, राजकीय बौद्ध संग्रहालय, पिपरहवा, सिद्धार्थनगर, उ.प्र.

	मारिची अशोक कान्ता	आर्य मारिची	मारिची पिकुबा
प्रतीक	बाँए हाथ से अशोक वृक्ष की शाखा को स्पर्श करते हुए	सुई और रस्सी (धाँगा)	सुई और रस्सी (धाँगा)
मुद्रा	दाँए हाथ से आशीर्वाद देते हुए बाँए हाथ अशोक वृक्ष की शाखा को पकड़े हुए है।	दाँए हाथ–सुई बाँए हाथ–रस्सी	दाँए हाथ–परशु, धनुष, बाँए हाथ–तीर, वज्र, अशोक की पत्ती
वाहन	शुकर	शुकर	सात शुकर युक्त रथ पर आरूढ़
रंग	पाण्डु (पीला)	पाण्डु (पीला)	पाण्डु (पीला)
आसन	खड़ी अवस्था	खड़ी अवस्था	दाँया पैर ऊपर की ओर करके (अलीध आसन)
भुजा	निश्चित नहीं	निश्चित नहीं	आठ
मुख	निश्चित नहीं	निश्चित नहीं	तीन
संसर्ग/ अंकन	मुकुट में वैरोचन	मुकुट में वैरोचन	मुकुट में वैरोचन

यह चार देवियों, वरताली, वडाली, वराली और बारहमुखी से घिरी रहती है। यह दुश्चरित्र एवं पापी लोगों का आँख व मुख सुई व धागों से सिलाई कर देती है।

बौद्ध देवी मारिची का एक मंदिर उड़ीसा राज्य के भुवनेश्वर जिले में नीलगिरी से मयूरभंज वाले रास्ते पर दाहिने तरफ स्थित है यह पीढ़ा विमान प्रकार का मंदिर है जिसमें मारिची ठकुरानी, अवलोकितेश्वर, बौद्ध स्तूप, भूमि स्पर्श मुद्रा में बुद्ध और वराही की प्रतिमाएं बनी हुई है।[9] मुख्य प्रतिमा की पूजा दुर्गा के रूप में हो रहा है लेकिन प्रतिमा शास्त्र के आधार पर विद्वानों ने इसे महामाया मारिची के रूप में पहचाना है। मुख्य प्रतिमा के दाँए–बाँए दो अन्य प्रतिमाएं भी बनी हुई है। यह मंदिर ग्यारहवीं सदी ई. में सोमवंशी केसरी शासकों द्वारा बनवाया गया था।[10]

तिब्बती कला में मारिची की मुकुट में स्तूप और शुकर की सवारी करते हुए दिखाया गया है। स्थानीय गीतों में रात्रि का भ्रम दूर करने वाली देवी के रूप में जाना जाता है साथ ही व्यापारियों द्वारा रास्ते की सुरक्षा हेतु इसकी पूजा की जाती थी। हिन्दू देवी समूह में वराही के प्रतिमा लक्षण का वर्णन मत्स्य पुराण और रूपमण्डन में

मिलता है,[11] जो कि बौद्ध देवी मारिची से समानता रखता है क्योंकि वराही की शारीरिक संरचना नारी रूप में एवं मुख वराह का बना होता है जबकि मारिची की शारीरिक रचना नारी के रूप में ही होता है और सामने का मुख नारी मुख एवं दाँए एवं बाँए के दो मुख वराह/शुकर का बना होता है।[12]

हालांकि वज्रयान देवी समूह में वज्रवराही की अवधारणा विद्यमान है, जो कि हिन्दू देवी समूह में वराही के ही समान प्रतिमा लक्षणों वाली है।[13] राजकीय बौद्ध संग्रहालय, पिपरहवा में बौद्ध देवी मारिची की प्रतिमा की एक अनुकृति लगी हुई है जो कि 10वीं शती ई. की नालन्दा क्षेत्र की है। प्रतिमा लक्षणों के आधार पर इसकी पहचान मारिची पिकुवा के रूप में किया जाता है इसके आसन में दाँया पैर ऊपर की ओर करके खड़ी है। यह अष्टभुजा एवं तीन मुख वाली सुई और रस्सी लिए हुए सात शुकर युक्त कमलासन रथ पर आरूढ़ है।

बौद्ध धर्म के वज्रयान शाखा की देवी समूह की मारिची पारिस्थितिक तन्त्र को संरक्षित करने का प्रतिकात्मक रूप से प्रतिनिधित्व करती है। सात शूकरों के रथ पर आरूढ़ होना सूर्य के सात रश्मियों का प्रतीक है जो कि प्राकृतिक ऊर्जा का मुख्य स्रोत है। सुई और धागे द्वारा पापियों के आंख और मुख सिलाई करने का तात्पर्य है असत्य पर सत्य की जीत है। कुछ मामलों में मारिची के साथ जुड़े जादू–टोना, तन्त्र मन्त्र को वैज्ञानिकता की दृष्टि से ग्राह्य नहीं माना जा सकता है। मारिची का सम्बन्ध ध्यानी बुद्ध वैरोचक से है जो कि प्राकृतिक तत्व रूप अर्थात् आकाश को और आदर्श ज्ञान का धारण करते हैं। मारिची, हिन्दू धर्म के वराही की अवधारणा का वज्रयान में प्रतिनिधित्व करती है।

सन्दर्भ

1. वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, वाराणसी 1982, पृष्ठ–148
2. आर.एस. गुप्ते, आइकोनोग्राफी आफ द हिन्दू बुद्धिष्ट एण्ड जैन 1980, बाम्बे पृष्ठ–108
3. वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, वाराणसी, 1982, पृष्ठ–148
4. डेविड एवं लोनहाल, 1990, मारिस्टेन, बुद्धिष्ट एण्ड द वरियर गाडेज एन्न अरवोर यूनिवर्सिटी पृष्ठ–45
5. आर.एस. गुप्ते, आइकोनोग्राफी ऑफ हिन्दू बुद्धिष्ट एण्ड जैन 1980, बाम्बे पृष्ठ–126
6. आर.एस. गुप्ते–पृष्ठ–126
7. डा. मारूतिनन्दन तिवारी एवं डा. कमलगिरी–मध्यकालीन भारतीय प्रतिमा लक्षण, प्रथम संस्करण 1997. विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक, वाराणसी पृष्ठ–214
8. आर.एस. गुप्ते, पृष्ठ–138
9. थॉमस यूगेने डोनाल्ड सन, ओड़िसा ईमेज आफ बराही, उड़ियन मारिची एण्ड रिलेटड़े गाडेज, 1995, आर्टीक्स एशिया पब्लिसर पृष्ठ–155

10. थॉमस यूगेने डोनाल्डसन................, पृष्ठ–155

11. आशा कालिया 1982, आर्ट ऑफ उड़ीसा टेम्पल सीशियों इकोनोमिक एण्ड रिलिजियस लाइफ इन इण्डिया 8th–12th शती ई. सन्, नई दिल्ली अभिनवन प्रकाशन पृष्ठ– 108–110.

12. थॉमस यूगेन डोनाल्डसन 1955, ओरिजीन इमेज ऑफ वराही, ओडियन मारिची एण्ड रिलेटेड शो. फे सेड गाडेज, आर्विट एशियन प्रकाशन पृष्ठ–155–182

13. आर.नागास्वामी 2004, आइकोनोग्राफी ऑफ वराही

□□

प्राचीन भारतीय मिट्टी के बर्तन

डा. चन्द्र मोहन वर्मा*

अति प्राचीन काल से ही भारत में भी मिट्टी के बर्तनों का प्रचलन रहा है, हमारे पूर्वज किस प्रकार के बर्तनों में अपना अनाज रखते थे, किसमें भोजन बनाते व भोजन करते थे तथा किस बर्तन से पेय पीते थे, धातु के विविध बर्तनों के अतिरिक्त प्राचीन स्थलों के उत्खनन से विविध प्रकार के मिट्टी के बर्तन प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुए हैं, इनमें हण्डियाँ, कसोरा, परई कुण्डे, तश्तरी, भिक्षापात्र आदि जो प्रतिदिन साधारण मनुष्य के प्रयोग में थे।

उत्खनन से प्राप्त मिट्टी के बर्तनों का आकार–प्रकार अलग–अलग रूप में है। भिन्न स्तरों से प्राप्त मिट्टी के बर्तनों का समय व रूप अलग हैं। किसी पर किसी प्रकार चित्रकारी है तो किसी में किसी प्रकार, किसी की ग्रीवा पतली व लम्बी है तो किसी की चौड़ी। बर्तन बनाने की प्रक्रिया में मिट्टी मांड़ने, सुखाने, पकाने, आकार–प्रकार व रंगाई, चित्रकारी में उत्तरोत्तर विकास एवं परिवर्तन होते रहे हैं। उसमें मनुष्य का इतिहास छुपा हुआ है। मानव अति प्राचीन काल से ही मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग करता रहा है, भारत में वर्तमान समय में भी मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग हो रहा है, प्राचीन इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से प्राप्त मिट्टी के बर्तनों का महत्वपूर्ण स्थान है। इनके आधार पर ही प्रत्येक काल के मनुष्य की जीवन शैली का पता लगाया जा सकता है।

मनुष्य को अपने प्रारम्भिक काल में किसी प्रकार के बर्तनों की आवश्यकता नहीं थी, मनुष्य उस युग में अपना जीवन यापन कच्चा मांस व कच्चे फल खाकर कर लेता था।[1] उस युग में प्रस्तर के हथियार ही सर्व उपयोगी थे। इस काल में मानव कन्दराओं, वृक्ष के नीचे रहकर वर्षा, गर्मी आदि से अपनी रक्षा करता था। तीसरा युग बर्तनों के व्यवहार की दृष्टि से वह था। जब मानव मिट्टी की झोपड़ियाँ बनाने लगा था, परन्तु मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग नहीं करता था। वह आखेट कर अपना पेट भरता था। इसे पात्र रहित काल कहा जा सकता है।

इसके बाद वह युग आता है जब मनुष्य हाथ से मिट्टी के बर्तन बनाने लगता था, ये बर्तन सादे रहते थे, भारत में भी कई स्थानों पर इस प्रकार के बर्तन हुए हैं। ब्रह्मगिरि[2] क्वेटा[3] राना घुण्डई[4] आदि इन बर्तनों के आकार–प्रकार से पता लगता है कि मानव ने इस काल में पेड़ की टहनियों से डोरी बनाना आरम्भ कर लिया था एवं मिट्टी को अच्छी प्रकार सानकर हाथ से बेलकर मिट्टी की लम्बी–लम्बी डोरियाँ बना लेता था। उनको गोल कर बर्तन का रूप देता था। पुनः हाथ से चिकना कर उनको सूर्य की रोशनी में सुखाता था। प्रायः इस काल के चौड़े मुँह वाले व गोल पेंदी के बनते थे। इन बर्तनों को बनाने के लिए मिट्टी छिछले जलाशयों से लायी जाती रही होगी क्योंकि ऐसे स्थानों की मिट्टी पानी में रहने के कारण सड़ जाती है। जलाशयों से लाकर मिट्टी का पुनः लोंदा बनाकर जमीन में फेंका जाता था, जिससे बुलबुले निकल जायें, कील गुल मोहम्मद से प्राप्त बर्तनों

---

* प्रदर्शक व्याख्याता राज्य संग्रहालय, लखनऊ

पर साधारण चटाई के चिन्ह प्राप्त हुए हैं, इस चिन्ह[5] से ऐसा ज्ञात होता है कि बर्तन सुखाने से पूर्व इनको चटाई से बराबर किया जाता था। ब्रह्मगिरि से प्राप्त हाथ से बने मिट्टी के बर्तनों बर्तन जो पूर्वकालीन हैं उनमें कुछ बर्तनों के ऊपर रेखायें चित्रित हैं जो पकाने के बाद गेरू से बनायी जाती है। इन रेखाओं का रंग भूरा बैंगनी है[6] इनका काल 2000 ईसा पूर्व रखा गया है। इस प्रकार के बर्तन गुजरात एवं लंघनाज से प्राप्त हुए हैं[7] इनका रंग भूरा व पीला है एवं सूर्य की किरणों में सुखाया गया है।

इस काल से पूर्व मनुष्य ने खेती करना आरम्भ कर दिया था तथा पत्थर एवं हड्डी के उपकरणों का प्रयोग करने लगा था।[8] धूप से सुखाये गये बर्तन जल्दी टूट जाते थे इनको बनाने में समय भी अधिक लगता था जिससे मनुष्य को परेशानी का सामना करना पड़ रहा था। ऐसा ज्ञात होता है कि संयोगवश किसी मनुष्य ने बर्तन को आग के पास छोड़ दिया होगा, जिससे बर्तन पक गया होगा, जिससे मानव को यह पता चला कि आग से बर्तन पकाये जा सकते हैं। इस आविष्कार के बाद कदाचित् बर्तन पकाने हेतु लकड़ी जलाकर बर्तनों को चारों ओर रख दिया जाता रहा होगा। आज भी अफ्रीका में इसी प्रकार बर्तन पकाये जाते हैं। इस खोज से ही ऑवों का जन्म हुआ होगा, आग की आँच में पकाये गये बर्तन हल्के भूरे एवं सिलेटी रंग के हैं।

इसके बाद हमें चाक पर बने बर्तन प्राप्त होने लगते हैं। गार्डन का मत है कि भारत में चाक पश्चिम से आयी थी[9] परन्तु गार्डन का यह मत सर्वमान्य नहीं हो सकता है क्योंकि प्रत्येक सभ्यता का जन्म अलग रूप एवं विकास हुआ है और आवश्यकतानुसार समय–समय पर नये आविष्कार भी हुए।[10]

भारत में ऐसी मान्यता है कि चाक का आविष्कार सबसे पहले असुरों द्वारा किया गया।[11] सिन्धु सभ्यता के नीचे स्तर से भी चाक से निर्मित मिट्टी के बर्तन प्राप्त हुए हैं जिनको पिग्गट ने ईरान से प्राप्त बर्तनों के समकक्ष रखा है।[12] चाक के आविष्कार ने मानव जीवन को परिवर्तन कर दिया था परन्तु इस आविष्कार के बाद भी कुछ बर्तन हाथ से बनते थे जिसके साक्ष्य हमें मोहनजोदड़ों और हड़प्पा से प्राप्त होते हैं।[13]

सिन्धु सभ्यता
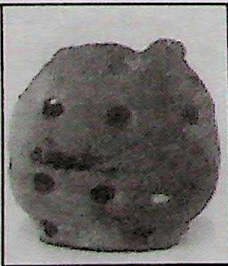
चित्र–1 : सिन्धु संस्कृति का मृद्भाण्ड
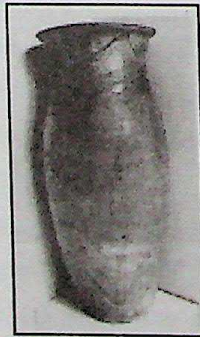
चित्र–2 : सिन्धु संस्कृति का मृद्भाण्ड
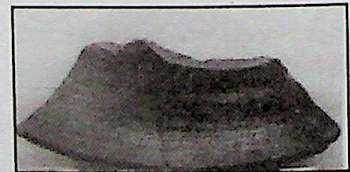
चित्र–3 : सिन्धु संस्कृति का मृद्भाण्ड

प्रस्तर युग के उपरान्त जो भारत में मिट्टी के बर्तन प्राप्त होते हैं, उसमें सबसे प्राचीन बर्तन

क्वेटा के कील मोहम्मद, देह, मोरासी, डम्ब, सादात, केचीवेग आदी स्थानों से प्राप्त हुए हैं,[14] इससे नीचे स्तरों से हाथ से बनाये गये बर्तन प्राप्त हुए हैं। इन बर्तनों में प्रयोग मिट्टी को अच्छी प्रकार माड़ा नहीं गया व सादे हैं, यों ही लकड़ी का ढेर लगाकर पकाये गये हैं। ज्ञात होता है कि इस स्तर के ऊपर चाक से बने बर्तन प्राप्त हुए हैं जो सिन्धु घाटी के अमरी के नीचे स्तरों से प्राप्त बर्तनों से मेल खाते हैं। क्वेटा से प्राप्त बर्तनों में एक प्रकार का मखनियाँ रंग का लेप प्राप्त होता है व उनके ऊपर काले रंग से चित्रकारी की गयी है। अमरी से प्राप्त बर्तनों का रंग हल्के लाल रंग का है। इन पर हल्के लाल रंग एवं मखनियाँ रंग का लेप प्राप्त होता है। इस लेप को चिपकाने का प्रयास नहीं किया गया है। इन पर काले रंग से चित्रकारी की गयी है परन्तु कहीं–कहीं पर लाल रंग का प्रयोग भी हुआ है। बर्तनों पर चित्रकारी करने हेतु काले काजल व लाल रंग (गेरु) प्रयोग किया गया है जिस पर गोंद भी मिलाया गया है। प्राप्त सफेद लेप खड़िया का है।[15]

उत्खनन से प्राप्त बर्तन इतने खण्डित है कि इनके आकार–प्रकार के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है। पूर्ण रूप से सुरक्षित बर्तन हड़प्पा, कोटडीजी, मोहनजोदड़ो, रंगपुर, लोथल आदि स्थानों से प्राप्त हुए हैं। अन्य स्थानों पर प्राप्त बर्तन तीन रंगों में प्राप्त होते हैं। 1. स्लेटी रंग के 2. पकाने के बाद गुलाबी हो गये हैं। 3. पकाने के बाद सफेद गुलाबी हो गये हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि मिट्टी में चूना एवं अबरक मिली बालू मिलायी जाती रही होगी। चूने के टुकड़े प्राप्त बर्तनों से प्राप्त हुए हैं।[16] ऐसी धारणा रही है कि अबरक मिट्टी में चमक होती है इस प्रकार की बालू मिट्टी पर मिलाने से दो लाभ थे। एक तो बनाते समय मिट्टी जल्दी सुखती नहीं थी दूसरा सुखाते समय बर्तन चिटकते नहीं थे। प्रायः बर्तनों के आकार–प्रकार मनुष्यों की रुचि और आवश्यकता पर निर्भर करती थी। सिन्धु घाटी के बर्तनों से ज्ञात होता है कि उस समय लोग गोलाई लिए हुए बर्तन पसन्द करते थे।

शुंग काल

हड़प्पा के बाद निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि उसके बाद किस प्रकार के बर्तन बने, इस युग के बाद एक प्रकार के सिलेटी रंग के बर्तन प्राप्त होने लगे थे जिन पर काले रंग से चित्रकारी की गयी है। इस प्रकार के बर्तन अम्बाला जिले के रुपड़ एवं कोटला के निहंग खां के ढूहे से और बागपत, तिलपत, अहिच्छत्रा, उज्जैन आदि स्थानों से प्राप्त हुए हैं। इन पर तीन प्रकार के रूप प्राप्त होते हैं। कुछ बर्तनों पर सिलेटी रंग सफेट आभा लिए हुए, कुछ गुलाबी रंग, कुछ पीलापन लिए हुए हैं।[17] इन पर सजावट हेतु जो रेखायें बनायी गयी हैं वे अत्यन्त दृढ़ है। इस प्रकार के बर्तन तेज गति से घूमती चाक पर बनाये गये हैं। जैसा कि इन पर अंगुलियों के निशानों से पता चलता है इन बर्तनों को बनाने

चित्र–4 : 600 ई. पूर्व से 100 ई.

में प्रयोग की गयी मिट्टी भली–भाँति कूटी एवं मिलायी गयी है। ये बर्तन पूर्ण रूप से भट्टी पर पकाये गये हैं। बर्तनों का सिलेटी रंग बन्द आंवे के धुंए से हो गया है। चित्रकारी हेतु काजल एवं लाल रंग का प्रयोग किया गया है। इन बर्तनों का समय 1000 ईसा पूर्व से 800 ईसा पूर्व निर्धारित किया गया है।[18]

कुषाण काल

भारतीय सभ्यता पर यूनान का प्रभाव सिकन्दर के आक्रमण के बाद पड़ने लगा था। कुषाण काल आते–आते भारतीय संस्कृति पर विदेशी प्रभाव दिखायी देने लगता है। उत्तरी भारतीय काले चमकदार बर्तनों का बनना बन्द हो गया था। उत्खनन से दूसरे प्रकार के बर्तन प्राप्त होने लगे थे। इनका काल प्रायः प्रथम शती ईसा पूर्व से चौथी शती तक माना जाता है।

चित्र–5 : प्रथम शती ई. से तीसरी शती ई.

प्रायः पानी एवं मद्य रखने वाले बर्तनों पर टोंटी लगायी जाने लगी व बर्तनों के पकड़ने हेतु कुण्डे प्रयोग होने लगा था। इन बर्तनों को सजाने हेतु पाँच प्रकार की विधियों का प्रयोग होना था। बर्तन पर चित्रकारी के साथ खुदाई की गयी है। इन पर छिलाई करके उभारदार नक्काशी की गयी है किसी पर ठप्पों का प्रयोग किया गया है व चमकदार बनाये गये हैं। चित्रित बर्तनों पर अधिकतर फूल–पत्तियों का अंकन किया गया है चित्रकारी को सुन्दर बनाने हेतु पीले, गुलाबी, मखनियां तथा गेरु के रंगों का प्रयोग किया गया है।

सिन्धु घाटी के मोहनजोदड़ो के उत्खनन से एक मिट्टी का बर्तन प्राप्त हुआ है जो छः इंच ऊँचा है। बर्तन के अन्दर से कुषाण शासकों के सिक्के प्राप्त हुए हैं जिसमें कनिष्क व वासुदेव के सिक्के थे।[19]

गुप्तकालीन मृत्पात्र

गुप्त साम्राज्य भारत में उत्तर भारत के चम्बल तक पूर्व में असम तक, पश्चिम में मालवा तक फैला हुआ था[20] इतने बड़े साम्राज्य में इस काल के बर्तन उत्तर भारत के सभी स्थानों में प्राप्त होने चाहिये थे व उनमें एकरुपता होनी चाहिए परन्तु ऐसा नहीं है। उत्खनन के समय प्राप्त स्तरों के बर्तनों को अलग नहीं रखा गया जिस कारण गुप्तकाल के बर्तनों के विकास को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। प्राप्त बर्तनों पर काले रंग की चित्रकारी की गयी है। यह चित्रकारी प्रायः बर्तन पकाने के बाद की गयी है। ऐसे बर्तन प्रायः ऊपरी स्तर से प्राप्त हुए हैं। अधिकांश बर्तनों पर एक चमकदार लेप किया गया है जो नारंगी रंग से मेल खाता है, जिससे इन्हें कुषाण कालीन

चित्र–6 : प्रथम शती ई. से तीसरी शती ई.

बर्तनों से अलग करने में सहायता प्राप्त होती है। गुप्तकालीन मिट्टी के बर्तनों के विषय पर डॉ. वासुदेवशरण जी का लेख अहिच्छत्रा से प्राप्त बर्तनों की सज्जा पर है जो गुप्त काल के बर्तनों के बारे में प्रकाश डालता है।[21]

गुप्तकाल में बर्तनों पर लेप व उसको रंगने का प्रचलन बढ़ा। कुम्हारों का ध्यान बर्तनों की सफाई की ओर ज्यादा न होकर चित्रकारी की ओर ज्यादा था। वह सजाने की ओर आकर्षित थे। प्रारम्भिक गुप्तकाल के बर्तनों पर कुषाणकालीन बर्तनों का प्रभाव है परन्तु धीरे–धीरे गुप्तकालीन बर्तनों का आकार व स्वरूप बदलने लगा था, जो कुषाणकालीन बर्तन नीचे से भारी थे। अब ऊपर से पतले बनने लगे थे।

राज्य संग्रहालय के आरक्षित संकलन में भी सिन्धु सभ्यता से लेकर मध्यकाल के मिट्टी के बर्तनों का शोधपरक संकलन संग्रहीत है, जो शोधार्थी के शोध हेतु बहुपयोगी है। उक्त संकलन का कुछ अंश स्व. श्री आर.सी. शर्मा द्वारा संग्रहालय की "भारत की शिल्प यात्रा" प्रस्तर युग से तीसरी शती पुरातत्व वीथिका में अपने मार्गदर्शन में प्रदर्शित है।

सन्दर्भ

1. वी.डी. कृष्णस्वामी–स्टोन एज इन इण्डिया–इनशन्ट इण्डिया नं. 1 (1947) पृ. 121
2. कृष्णस्वामी–एनशन्ट इण्डियां नं.3 (1947) पृ. 39
3. कील गुल मुहम्मद का द्वितीय स्तर गाडेन–एनशन्ट इण्डिया नं. 10 (1954–55) पृ. 167
4. रास–ए चाल कोलीथिक साइट इन नार्दन बलूचिस्तान जर्नल ऑफ नीयर ईस्टर्न स्टडीज– खण्ड 5 (1946) पृ. 286
5. फेयर सर्विज–अमेरिकन म्यूजियम नावियट्टस नं. 1587 (1952) पृ. 17,18
6. व्हीलर–ब्रह्मगिरी एण्ड चन्द्रावली–इनशनट इण्डिया नं. 4 पृ.222
7. संकालिया–इनवेस्टिगेशन इन हिस्टारिक आर्किआलोजी ऑफ गुजरात (1946) पृ.138
8. गार्डन–दि स्टोन इण्डस्ट्रीज ऑफ दी हालो सेन, एनशन्ट इण्डिया नं. 6 (1950) पृ.73
9. गार्डन–दि पाटरी इण्डस्ट्रीज ऑफ दी इण्डो इरानियन वार्डर, एनशन्ट इण्डियां नं. 10, 11 पृ.159
10. ग्लिन, ई. डानियल–ए हण्डरेड इअर्स ऑफ आर्केआलजी पृ. 208
11. श्री माधव अनन्त फड़के–असुरो का उत्कर्षापकर्ष पृ. 3
12. पिग्गट्ट – ए न्यू प्री हिस्टारिक सिरामिक फ्राम बलूचिस्तान–एनशन्ट इण्डिया नं. 3 पृ. 136, 142

13. माके–एक्सकवेशन एट मोहनजोदड़ो – पृ. 179, प्लेट 57 नं. 15
14. फेयर सरविज–अमेरिकन म्यूजियम नोविदेट्स (सितम्बर, 1952) नं. 1587 पृ. 3 तथा आगे
15. व्हीलर–हड़प्पा (1946) एनशन्ट इण्डिया नं. 3 पृ. 105
16. मांके – फरदर एक्सवेशन्स एट मोहनजोदड़ो, पृ. 176
17. वी.वी. लाल–एक्सकवेशन्स एट हस्तिनापुर एण्ड अदर एक्सण्लोरेशन्स, एनशन्ट इण्डिया, 10, 11, पृ. 31 चित्र नं. 72
18. वी.वी. लाल वही
19. मांके–फरदर एक्सवेशन्स एट मोहनजोदड़ो, पृ. 187, प्लेट 5219
20. आर.सी मजूमदार–एनशन्ट इण्डिया पृ. 242
21. डॉ, वासुदेव शरण अग्रवाल–पाटरी डिजाइन्स फ्राम अहिच्छत्रा, ललित कला नं. 2–4 अप्रैल 1956–57, पृ. 74–81

❑❑

नूरूद्दीन मुहम्मद जहाँगीर द्वारा निर्गत शबीहयुक्त एवं राशियों के सिक्के

डॉ. अनिता चौरसिया*

नूरूद्दीन मुहम्मद जहाँगीर मुगल सम्राट अकबर का पुत्र था, जिसका जन्म 30 अगस्त सन् 1569 ई., बुधवार को सीकरी, जनपद–आगरा, उत्तर प्रदेश में हुआ था।[1] शेख सलीम चिश्ती की दुआ से नूरूद्दीन मुहम्मद जहाँगीर का जन्म होने के कारण उसके बचपन का नाम सलीम था। अपने पिता अकबर की मृत्यु के उपरान्त सन् 1605 ई. को आगरा में नूरूद्दीन मुहम्मद जहाँगीर के नाम से सिंहासन पर आसीन हुआ,[2] तत्पश्चात् मुगल साम्राज्य की सत्ता सम्भालते हुये 28 अक्टूबर, सन् 1627 ई. को उसका देहान्त हो गया।[3]

मुगल बादशाह नूरूद्दीन मुहम्मद जहाँगीर ने शबीहयुक्त एवं राशि वाले सिक्के जारी करवाकर मुद्रा कला के क्षेत्र में अद्वितीय कार्य किया। इसके पीछे उसका उद्देश्य भारतीय ज्योतिषशास्त्र में विश्वास या कोई अन्य विचारधारा, के सम्बन्ध में जानने से पहले जहाँगीर के शासनकाल में राशिवाले सिक्कों के जारी होने से पहले ढाले गये सिक्कों के मुद्रांकन का ज्ञान होना आवश्यक है। ढले सिक्कों में धातु खण्ड के अग्रभाग पर बादशाह का नाम तथा पृष्ठ–भाग पर स्थान, महीना, हिजरी सन् या जलूसी वर्ष (Regnal Years) अंकित करते थे।[4] इनके महीने चन्द्रदर्शन के दिन से प्रारम्भ होते हैं। जिस दिन सूर्य मीन राशि समाप्त कर मेष राशि में प्रवेश करता है, उस दिन से ईरानी वर्ष का प्रथम महीना 'फरवरदीन' प्रारम्भ होता है।[5] ईरानी वर्ष के महीनों के नाम एवं सम्बन्धित राशियां निम्नवत हैं :–

क्रम.सं.	ईरानी वर्ष		राशियाँ
1.	फरवरदीन	जनवरी	मेष
2.	उर्दिबिहिश्त	फरवरी	वृष
3.	खुरदाद	मार्च	मिथुन
4.	तीर	अप्रैल	कर्क
5.	मुर्दाद या अमुर्दाद	मई	सिंह
6.	शहरियर	जून	कन्या
7.	मेह्र	जुलाई	तुला
8.	आबाँ	अगस्त	वृश्चिक
9.	आजर	सितम्बर	धनु,
10.	दै	अक्टूबर	मकर
11.	बहमन	नवम्बर	कुम्भ
12.	इस्फंदारमुज	दिसम्बर	मीन

*मुद्रा शास्त्र सहायक, राज्य संग्रहालय, लखनऊ

नूरूद्दीन मुहम्मद जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा ''तुजुके जहाँगीरी'' में लिखा हैं कि 'मेरे मन में आया कि महीने के स्थान पर वे उस महीने की राशि की मूर्ति उन पर उभारें जैसे फरवरदीन महीने में मेढ़ा (भेड़) की और उर्दबिहिश्त महीने में वृषभ (बैल) की, जो इन महीनों का प्रतीक होता है। इसी प्रकार जिस महीने में सिक्का ढाला जाय उसी की राशि का चित्र इस प्रकार अंकित हो जैसे सूर्य उसी में से निकल रहा हो। यह सोच हमारी निजी है और अब तक कहीं प्रचलित नहीं हुई थी।'[6]

अतएव नूरूद्दीन मुहम्मद जहाँगीर के शबीहयुक्त एवं बारह राशियों– मेष, वृषभ, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुंभ एवं मीन राशि के सिक्कों का अवलोकन करने पर अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है कि उसने अपनी आत्मकथा ''तुजुके जहाँगीरी'' में वर्णित सोच को सिक्कों पर साकार किया।

किन्तु मुगल बादशाह नूरूद्दीन मुहम्मद जहाँगीर की यह व्यक्तिगत सोच कहीं न कहीं भारतीय ज्योतिषशास्त्र में विश्वास को दर्शाता है। क्योंकि उसकी माता आमेर के राजा भारमल (बिहारीमल) की कन्या थी, जिसे मुगल सल्तनत में 'मरियम–उज्–जमानी' का ओहदा प्राप्त था। चूंकि बादशाह नूरूद्दीन मुहम्मद जहाँगीर हिन्दू व मुस्लिम माता–पिता की सन्तान था, जिसके फलस्वरूप उसके पालन–पोषण में दोनों ही धर्मों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। बादशाह जहाँगीर की धार्मिक भावनाएं संकीर्ण विचारधारा से परिपूर्ण नहीं थी। वह अपने शासनकाल में पिता के सदृश्य ही धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अनुसरण किया। उसकी प्रजा चाहे हिन्दू हो या मुस्लिम सभी को अपने धर्म के प्रति आस्था प्रकट करने की स्वतंत्रता थी। वह स्वयं सूफी धर्म को मानते हुये भी हिन्दू त्यौहारों यथा होली, दशहरा, दीपावली, एवं शिवरात्रि आदि को मनाता था। यही कारण है कि बादशाह नूरूद्दीन मुहम्मद जहाँगीर द्वारा निर्गत शबीह एवं राशियों वाले सिक्कों के अवलोकनार्थ यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता हैं कि भले ही यह उसकी व्यक्तिगत सोच का परिणाम था, किन्तु कहीं न कहीं वह भारतीय ज्योतिषशास्त्र में विश्वास भी करता था।

1. शबीहयुक्त सिक्का[7] (स्वर्ण सिक्का)

अग्रभाग : बादशाह मुकुट पहने, बायीं ओर मुख किये, पलथी मार कर सिंहासन पर आसीन है। उसके सिर के पीछे प्रभामण्डल है तथा उसका बायाँ हाथ पैर पर व दायें हाथ में पान पात्र लिये हुए अंकित है। (फलक–एक, 1)

मुद्रालेख :– दाहिनी तरफ — قضا بر سکه زر کرد تصویر :

बायीं तरफ — شبیه حضرت شاه جهانگیر
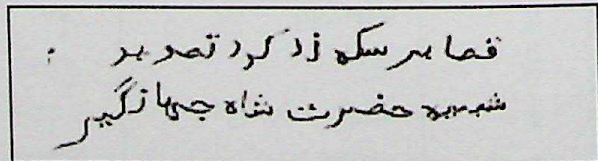
भावार्थ – नियति ने बादशाह जहाँगीर की इच्छाओं को स्वर्ण मुद्राओं पर दर्शाया है।[8]

पृष्ठभाग – बिन्दुयुक्त दोहरे आवृत के मध्य, बिन्दु से बने आयत के बीच सूर्य अंकित है। जिसके बायीं तरफ टकसाल का नाम अजमेर, हिजरी सन् 1023 तथा दायीं तरफ जलूसी वर्ष 09 अंकित है। (फलक–एक, 2)

मुद्रालेख :–

حروف جهانگیر و الله اکبر
ز روز ازل در عدد شد برابر
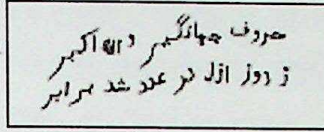
भावार्थ :– जहाँगीर का अर्थ होता है संसार का स्वामी। 'बाद में जहाँगीर ने अपने नाम के अनुरूप स्वयं को व सर्वशक्तिमान देवता को प्रथम दिन से लेकर अन्तिम दिन तक एक समान माना है।'[9]

1. मेष राशि[10] (स्वर्ण सिक्का)

अग्रभाग – मुद्रालेख
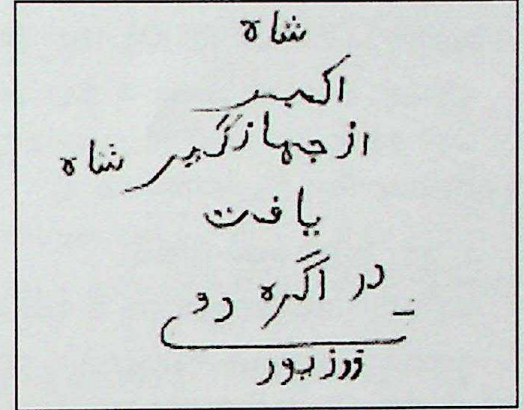
भावार्थ – आगरा के टकसाल में ढाले गये स्वर्ण सिक्कों ने अकबर पुत्र जहाँगीर से अपने सौन्दर्य को निखार लिया।[11] उपरोक्त मुद्रालेख के साथ हिजरी सन् 1028 अंकित है।

पृष्ठ भाग :– बिन्दुयुक्त आवृत्त के मध्य मेढ़ा (भेड़ा) को बैठे हुये दिखलाया गया है तथा उसके पीछे किरणयुक्त सूर्य एवं नीचे जलूसी वर्ष 14 अंकित है। (फलक–एक, 3)

2. वृष राशि[12] (स्वर्ण सिक्का)

अग्रभाग – उपरोक्त मुद्रालेख, किन्तु हिजरी सन् 1030 तथा जलूसी वर्ष 16 अंकित है।

पृष्ठभाग – सूर्य की किरणों से युक्त आवृत्त के मध्य ककुद् वृषभ बायांभिमुख खड़ा है। (फलक–एक, 4)

3. मिथुन राशि[13] (स्वर्ण सिक्का)

अग्रभाग – उपरोक्त मुद्रालेख; किन्तु हिजरी सन् 1029 तथा जलूसी वर्ष 15 अंकित है।

पृष्ठभाग – एक दूसरे के सम्मुख स्थानक मुद्रा में युगल, जिसके दाहिने एवं बायें सूर्य की किरणों का अंकन है। (फलक– एक, 5)

4 कर्क राशि[14] (रजत सिक्का)

अग्रभाग – उपरोक्त मुद्रालेख, किन्तु हिजरी सन् 1031 तथा जलूसी वर्ष 17 अंकित है।

पृष्ठभाग – बिन्दुयुक्त दोहरे आवृत्त के मध्य केकड़े का अंकन, जिसके नीचे की तरफ तीन तारे एवं मुख के पास किरणयुक्त सूर्य अंकित है। (फलक–एक, 6)

5. सिंह राशि[15] (स्वर्ण सिक्का)

अग्रभाग :- उपरोक्त मुद्रालेख, किन्तु हिजरी सन्, 1028 अंकित है।

पृष्ठभाग – बिन्दुयुक्त दोहरे आवृत्त के बीच, किरणयुक्त सूर्य के मध्य बायीं तरफ मुख किये सिंह का अंकन दृष्टव्य है तथा जलूसी वर्ष 14 अंकित है। (फलक–एक, 7)

6. कन्या राशि[16] (स्वर्ण सिक्का)

अग्रभाग :- उपरोक्त मुद्रालेख, किन्तु हिजरी सन् 1031 तथा जलूसी वर्ष 16 अंकित है।

पृष्ठभाग – सूर्य की किरणों से युक्त आवृत्त के मध्य स्त्री आकृति के सिर पर घड़ा हैं, जिसे वह अपने एक हाथ से सहारा दिये स्थानक मुद्रा में अंकित हैं राधा आकृति के चारों तरफ आवृत्त में बहुसंख्यक बिन्दु है। (फलक–एक, 8)

7. तुला राशि[17] (स्वर्ण सिक्का)

अग्रभाग – उपरोक्त मुद्रा लेख के साथ ही हिजरी सन् 1032 तथा जलूसी वर्ष 16 अंकित है।

पृष्ठभाग – बिन्दुयुक्त दोहरे आवृत्त के मध्य तराजू एवं चार बाँट, जिसका तुलादण्ड किरणयुक्त सूर्य के गोले के मध्य दिखलाया गया है (फलक–एक, 9)

8. वृश्चिक राशि[18] (स्वर्ण सिक्का)

अग्रभाग – उपरोक्त मुद्रालेख किन्तु हिजरी सन् 1030 अंकित है।

पृष्ठभाग – बिन्दुयुक्त आवृत्त के मध्य वृश्चिक का अंकन हैं, जिसके चारों तरफ सूर्य की किरणें निकलती हुई दिखलाई गई है। (फलक–एक, 10)

9. धनुराशि[19] (स्वर्ण सिक्का)

अग्रभाग – उपरोक्त मुद्रालेख किन्तु हिजरी सन् 1030 अंकित है।

पृष्ठभाग – सूर्य की किरणों से युक्त आवृत्त के मध्य राजा धनुष–बाण चलाते हुये, जो सरपट दौड़ते हुये घोड़े पर सवार है। (फलक–एक, 11)

10. मकर राशि[20] (स्वर्ण सिक्का)

अग्रभाग – उपरोक्त मुद्रालेख किन्तु हिजरी सन् 1031 तथा जलूसी वर्ष 16 अंकित है।

पृष्ठभाग – किरणयुक्त आवृत्त के मध्य बायीं तरफ मुख किये काल्पनिक पशु बैठा हुआ हैं, जिसका सिर बकरी तथा पैर मछली का है। (फलक–एक, 12)

11. कुम्भ राशि[21] (स्वर्ण सिक्का)

अग्रभाग– उपरोक्त मुद्रालेख के साथ ही हिजरी सन् 1031 तथा जलूसी वर्ष 16 अंकित है।

पृष्ठभाग– सूर्य की किरणों से युक्त आवृत्त के मध्य दाहिने कन्धे पर घड़ा लिये मानवाकृति का अंकन है। (फलक–एक, 13)

एक अन्य प्रकार के सिक्के पर आवृत्त के मध्य घड़ा अंकित हैं, जिसके चारों तरफ सूर्य की किरणें निकलती हुई दिखलाई गई है। (फलक–एक, 14)

12. मीन राशि [22] (रजत सिक्का)

अग्रभाग – उपरोक्त मुद्रालेख किन्तु हिजरी सन् 1028 एवं जलूसी वर्ष 23 अंकित है।

पृष्ठभाग – सूर्य की किरणों से युक्त आवृत्त के मध्य दो मछलियाँ अंकित है। ऊपर अंकित मछली का मुख बायीं तरफ तथा नीचे स्थित मछली का मुख दायीं ओर अंकित है। (फलक–एक, 15)

सन्दर्भ

1. जहाँगीर का आत्म चरित (जहाँगीरनामा), सं. 2014, पृ.22, व्रजरत्नदास
2. द क्वायन्स ऑफ द मुगल एम्पायर्स ऑफ हिन्दुस्तान इन द ब्रिटिश म्यूजियम, सन् 1892 ई., पृ. XVII, लेनपूल
3. जहाँगीर का आत्मचरित (जहाँगीर नामा), सं. 2014, पृ. 44, व्रजरत्नदास
4. उपरोक्त; पृ. 514
5. उपरोक्त, पृ. 18
6. उपरोक्त, पृ. 514
7. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, स्वर्ण सिक्का, एक्सेशन नं. 7272
8. कैटेलॉग ऑफ क्वायन्स इन द पंजाब म्यूजियम, लाहौर, सन् 1914, पृ. 119, आर.बी. हवाइट हेड
9. उपरोक्त
10. कैटेलॉग ऑफ द क्वायन्स इन द इण्डियन म्यूजिमय कलकत्ता, सन् 1908; पृ. 65, एच.नेल्सन राइट
11. कैटेलॉग ऑफ क्वायन्स इन द पंजाब म्यूजियम, लाहौर, सन् 1914, पृ. 124, आर.बी. हवाइटहेड
12. द क्वायन्स ऑफ द मुगल एम्पायर्स ऑफ हिन्दुस्तान इन द ब्रिटिश म्यूजियम; सन् 1892 ई.,पृ. 66, फलक सं. X नं. 327, स्टेनली लेनपूल
13. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, स्वर्ण सिक्का, एक्सेशन नं. 1191
14. राज्य संग्रहालय, लखनऊ; रजत सिक्का, एक्सेशन 3734
15. द क्वायन्स ऑफ द मुगल एम्पायर्स ऑफ हिन्दुस्तान इन द ब्रिटिश म्यूजियम, सन् 1892 ई.,पृ. 67, फलक सं. X नं. 334, स्टेनली लेनपूल
16. उपरोक्त, पृ. 68, फलक सं. X, नं. 340।
17. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, स्वर्ण सिक्का, एक्सेशन नं. 5797
18. द क्वायन्स ऑफ द मुगल एम्पायर्स आफ हिन्दुस्तान इन द ब्रिटिश म्यूजियम, सन् 1892, ई.,पृ. 69, फलक सं. X नं. 346, स्टेनली लेनपूल।

19. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, स्वर्ण सिक्का, एक्सेशन नं.–11404
20. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, स्वर्ण सिक्का, एक्सेशन नं.–10282
21. द क्वायन्स ऑफ द मुगल एम्पार्यस ऑफ हिन्दुस्तान इन द ब्रिटिश म्यूजियम, सन् 1892 ई. पृ. 70, फलक सं. X नं. 355, स्टेनली लेनपूल।
22. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, रजत सिक्का, एक्सेशन नं. 3742

□□

फलक –एक

1 2 3

4 5 6

7 8 9

10 11 12
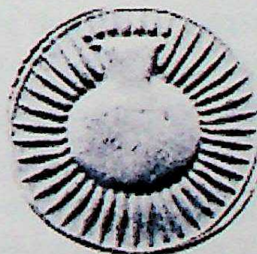
13 14 15

"Museum : Heritage and Development go hand in hand"

आगरा एवं मथुरा की अप्रकाशित मूर्तियां

बीरी सिंह*

प्राचीन काल से ही आगरा और मथुरा कला के प्रमुख केन्द्र रहे हैं। यहां से समय–समय पर विविध धर्मों एवं विभिन्न आकार–प्रकार की कलाकृतियां प्राप्त होती रहती हैं। ये कलाकृतियां कभी आकस्मिक तौर पर तो कभी सर्वेक्षण और उत्खनन के दौरान मिलती रहती हैं। इसी क्रम में सन् 2006 और 2007 में कुछ महत्वपूर्ण मूर्तियां प्राप्त हुयी हैं, जिनमें से निम्नांकित तीन मूर्तियों का अध्ययन किया जा रहा है :–

1. चावरधारणी

यह चावरधारणी मूर्ति बलदेव मथुरा से प्राप्त हुयी है। वर्तमान में यह राजकीय संग्रहालय मथुरा में सुरक्षित है किन्तु अभी तक इसका पंजीकरण नहीं हुआ है। प्रतिमा रक्त वर्ण के बलुआ पाषाण से निर्मित हैं, जिस पर सफेद रंग के किये गये लेप के अंशमात्र दृष्टव्य हैं मूर्ति के कटि से नीचे का भाग खण्डित है किन्तु प्रतिमा की स्थिति से स्पष्ट है कि चावरधारिणी की यह खड़ी अवस्था है। मूर्ति का वाम हस्त कुहनी से नीचे टूट चुका है, जबकि दाहिने हस्त से चावर? उपर की ओर उठाये हुयी है। चावर का कुछ भाग ही शेष है दोनों भुजाओं पर बर्फी के आकार से अलंकृत बाजूबन्द देखे जा सकते हैं। दाहिने हाथ में दस वलय (Bangle) एवं बड़े–बड़े मनके युक्त कड़ा पहने हैं। ग्रीवा के उभारों को अर्द्धवृत्ताकार रेखाओं द्वारा सुन्दरता से गढ़ा गया है। ग्रीवा में दो हार हैं, जिनमें मनको से युक्त बड़ा हार उन्नत वक्षों के बीच जाता हुआ नीचे तक लटक रहा है। बड़े–बड़े कर्णाभूषणों से युक्त प्रतिमा का केश विन्यास उत्तम श्रेणी का है। जिनके बीच से 'बोरला'[1] (ब्रज क्षेत्र में केशों के इस आभूषण को 'बोरला' कहा जाता हैं) स्पष्ट दिखाई देता है। इस विन्यास को बारीक रेखाओं द्वारा दिखाया गया है। पीछे की ओर से केस एक अलंकृत वेणी से गुथे हुए हैं, वेणी दाहिनी स्कन्ध को छूते हुए लटक रही है जो सम्मुख से दृष्टव्य है। प्रतिमा के बड़े–बड़े नयन, धनुषाकार भौहें, उच्च नासिका, सुन्दर पतले ओष्ठ एवं अण्डाकार मुखमण्डल है। प्रतिमा सौम्य एवं प्रसन्नचित भाव को दर्शाती है। प्रतिमा के शारीरिक गठन में स्तन एवं उदर का उचित संयोजन नहीं हो पाया है। विशेष तौर पर स्तन संरेखीय नहीं है। प्रतिमा के उपरोक्त वर्णित
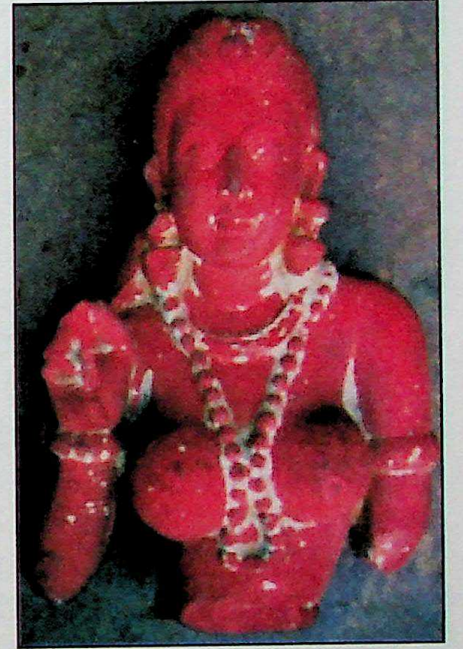
---

*गांव बरौली, डाकघर किरावली, जनपद–आगरा

विशेषताओं से स्पष्ट है कि इसका निर्माण 6वीं शती में हुआ है। सूक्ष्मता से देखने पर मूर्ति त्रिभंग मुद्रा में प्रतीत होती हैं क्योंकि उसका उदरभाग दायीं दिशा में झुका हुआ है। यह प्रतिमा कला के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान रखती है। प्रतिमा की माप 27.5×17.5×10 सेमी है।

2. गणेश

प्रस्तुत गणेश प्रतिमा 2007 में कलेक्ट्रेट आगरा में भवन निर्माण हेतु की जा रही नींव की खुदाई के दौरान प्राप्त हुयी है। यह प्रतिमा कांस्य धातु द्वारा निर्मित है जिसका मात्र पादपीठ की तरफ से 5 सेमी. भाग खोखला है। चतुर्मुखी गणेश, ललितासन मुद्रा में आसन पर विद्यमान हैं। वर्तमान में यह देव प्रतिमा राजकीय संग्रहालय मथुरा में संरक्षित है। अभी तक इसे पंजीकरण संख्या प्राप्त नहीं हो सकी है।

गणेश प्रतिमा मुकुट युक्त है जिसमें पुष्पदल एवं उर्ध्वाधर रेखायें उत्कीर्ण हैं। मुकुट अलंकरण के ही अंश देव के चौड़े मस्तक पर भी लटक रहे हैं। इसकी भौहें नेत्र, दन्त एवं सूंड स्पष्टतया दर्शनीय है। लम्बे कर्ण दोनों स्कन्धों को स्पर्श कर रहे हैं। ग्रीवा पतली है, जो सूंड से ढ़की हुयी है। प्रतिमा को सूंड द्वारा दायें कर की हथेली में रखे मोदकों को पकड़ते हुए दिखाया गया है। सूक्ष्मता से देखने पर ग्रीवा में मनके का एक हार भी दिखायी पड़ता है। इसी के साथ एक सर्प भी लिपटा है, जो उदर भाग पर दृष्टिगत है। चतुर्भुज गणेश के दक्षिण करों में क्रमशः अभयमुद्रा व सर्प? हैं। वामकरों में क्रमशः मोदक व परशु धारित है। मूर्ति हाथों में बाजूवन्द व कड़े धारित हैं। गणेश का उदर भाग बड़ा है। कटि प्रदेश अधोवस्त्र से आच्छादित है, जिसकी सलवटें कलात्मक हैं। पादों की अंगुलियां अच्छी अवस्था में निर्मित की गयी हैं।

प्रतिमा की अलंकृत पादपीठ अर्धतारा (Half Star) में ऊंची निर्मित है। देव के आसन के दाहिनी तरफ इनका प्रसिद्ध वाहन मूषक भी उपस्थित है, जिसका मुख उपर है। मूसक के कर्ण, पाद, पृच्छ व देह भी सुन्दर अवस्था में निर्मित है। यह प्रतिमा कलात्मक दृष्टि से 18वीं–19वीं शती की निर्मित है, जिसकी माप 15×9.5×7 सेमी है।

3. चतुर्भुजी विष्णु

यह मूर्ति मथुरा स्थित नगला खुटिया के नैनुपट्टी नामक स्थान से अगस्त 2006 में प्राप्त हुयी है। मूर्ति वर्तमान में राजकीय संग्रहालय मथुरा में रखी हुयी है। इसकी पंजीकरण संख्या–6.3.04 है। चतुर्भुज विष्णु को सलेटी रंग के बलुआ पाषाण के एक पतले आयताकार फलक पर उत्कीर्ण किया गया है। जिसके परिमाप को सुन्दर लहरिया डिजाइन से अलंकृत किया गया है। नीचे की तरफ गहरी दो रेखायें उकेरी गयी हैं, जो कि पादपीठ की प्रतीक हैं। चतुर्भुजी विष्णु के दाहिने हाथों में क्रमशः गदा व शंख हैं, जबकि वाम हाथों में चक्र और.....? पकड़े हैं। चक्र के बारह आरों को देखा जा सकता है शेष आरे प्रतिमा के इस भाग के खण्डित होने से अदृश्य हो गये हैं। मूर्ति कण्ठहार, यज्ञोपवीत, किरीट मुकुट व प्रभा मण्डल से सुशोभित है। मूर्ति के स्कन्धों से लटकता हुआ एक पीताम्बर और वनमाला भी द्रष्टव्य है। मूर्ति कटि के नीचे सिर्फ अधोवस्त्र पहने है, जिसकी सलवटों को रेखाओं के द्वारा उकेरा गया है। मूर्ति की नासिका अपेक्षाकृत बड़ी है, उठी हुयी भौहें हैं, जिनके मध्य में वृत्ताकार ऊर्णा भी है। किरीट मुकुट, नेत्र, नासिका, ओष्ठ प्रभामण्डल, हस्थ, पाद और आयुधों आदि का उचित संयोजन एवं उत्कीर्णन नहीं हुआ है। अतः स्पष्ट है कि कलाकार मूर्ति के गणन में सफल नहीं हुआ है। फलतः प्रतिमा को कला की दृष्टि से उत्कृष्ट श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। प्रतिमा लगभग 19वीं शती में निर्मित है जिसकी माप 21.5×11.5×1.5 सेमी है।

उक्त तीनों प्रतिमाओं में से चावरधारिणी प्रतिमा को छोड़कर अन्य दोनों प्रतिमायें आधुनिक काल की हैं। आधुनिक काल की मूर्तियों में विष्णु मूर्ति सलेटी रंग के बलुआ पाषाण से एवं गणेश मूर्ति कांस्य धातु से निर्मित है। ये तीनों मूर्तियां प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से उत्कृष्ट नहीं कही जा सकती हैं। किन्तु इन मूर्तियों की प्राप्ति से विदित होता है कि वर्तमान में भी आगरा व मथुरा क्षेत्र में मूर्तियों का निर्माण प्रचुर मात्रा में हो रहा है।

□□

"India is Proud of Her Cultural Tresures"

राज्य संग्रहालय, लखनऊ की नवीनतम शैक्षिक गतिविधियां वर्ष 2012–13 एवं 2013–14

डा. चन्द्र मोहन वर्मा*

राज्य संग्रहालय, लखनऊ उत्तर प्रदेश का सबसे बड़ा एवं सबसे अधिक पुराना बहुउद्देशीय संग्रहालय है, इसकी गणना भारत के प्रमुख संग्रहालयों में होती है, जिस कारण संग्रहालय में शोधकार्य हेतु देश–विदेश के शोध–छात्र वर्ष भर आते रहते हैं।

इस संग्रहालय की स्थापना सन् 1863 ई. में सीखचे वाली कोठी में हुई थी, बीस वर्ष बाद यह प्रान्तीय संग्रहालय घोषित हुआ, सन् 1950 ई. में इसका नामकरण प्रान्तीय संग्रहालय के स्थान पर राज्य संग्रहालय हो गया, संग्रहालय के बढ़ते संकलन व महत्वता को देखते हुये 15 अगस्त, 1956 ई. को तत्कालीन मुख्यमंत्री डॉ. सम्पूर्णानन्द जी ने नये भवन का शिलान्यास किया, 12 मई, 1963 को बनारसीबाग स्थित नये भवन का उद्घाटन भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. श्री जवाहर लाल नेहरू ने किया था। वर्तमान में यह संग्रहालय संस्कृति विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा नियंत्रित राजकीय संस्था हैं।

राज्य संग्रहालय आरम्भ से ही शिक्षा के प्रचार–प्रसार में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है, समय–समय विविध विषयों पर अधिकृत विद्वानों के व्याख्यान आयोजित किये जाते हैं, इसके अतिरिक्त संगोष्ठियों तथा कार्यशालायें भी आयोजित की जाती हैं, संग्रहालय द्वारा कला अभिरूचि पाठ्यक्रम, चित्रकला, कोलाज, तथा क्ले–माड़लिंग जैसे कार्यक्रमों से विद्यार्थियों तथा कला जिज्ञासुओं को लाभान्वित करने का दायित्व भी निभाता रहा है। संग्रहालय में आये हुये छात्र समुहों को निःशुल्क प्रवेश देकर उन्हें विशेष वीथिका व्याख्यान देने की व्यवस्था की जाती है। अस्थायी प्रदर्शियों द्वारा आरक्षित संकलन में रखे गये पुरावशेषों का लाभ भी आम जनता को कराया जाता है। राज्य संग्रहालय, लखनऊ–कानपुर विश्वविद्यालय का मान्यता प्राप्त शोध केन्द्र है।

आलोच्य वर्षों में राज्य संग्रहालय द्वारा शैक्षिक कार्यक्रमों के तह निम्न कार्यक्रमों का आयोजन किया गया।

1. दिनांक 18.04.2012 को विश्व धरोहर दिवस के अवसर पर संग्रहालय प्रदर्शनी हाल पर एक चित्र प्रदर्शनी का आयोजन किया गया।

2. 10 मई 2012 को राज्य संग्रहालय व झांसी संग्रहालय के संयुक्त तत्वाधान में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम विषय पर फोटो चित्र प्रदर्शनी का आयोजन हुआ।

---

* प्रदर्शक व्याख्याता, राज्य संग्रहालय, लखनऊ

3. 15 मई, 2012 से 17 मई, 2012 को राज्य संग्रहालय एवं भारतीय संरक्षण संस्थान, लखनऊ के संयुक्त तत्वाधान में तीन दिवसीय प्रशिक्षण कार्यशाला का आयोजन हुआ जिसमें लगभग 40 प्रतिभागियों ने भाग लिया।
4. 18 मई, 2012 को अन्तर्राष्ट्रीय संग्रहालय दिवस पर ''भारत एक खेल'' फिल्म प्रदर्शन एवं विथिका व्याख्यानों का आयोजन किया गया।
5. शैक्षिक कार्यक्रमों के अन्तर्गत दिनांक 4 जून, 2012 को राज्य संग्रहालय लखनऊ एवं आंचलिक विज्ञान नगरी लखनऊ के संयुक्त तत्वाधान में पर्यावरण दिवस के अवसर 'हरा भरा लखनऊ'' विषय पर बाल चित्रकला प्रतियोगिता का आयोजन किया गया, जिसमें लखनऊ के विभिन्न स्कूलों के लगभग 150 बच्चों ने भाग लिया।
6. दिनांक 5 जून, 2012 को विश्व पर्यावरण दिवस पर राज्य संग्रहालय लखनऊ में ''भारतीय चित्रकला में वन्यजीव'' शीर्षक प्रदर्शनी लगायी गई। इस अवसर पर गुरूनानकदेव विश्वविद्यालय अमृतरस से आयीं डॉ. जीवन सोढ़ी द्वारा ''भारतीय चित्रकला में वन्यजीव'' विषय पर व्याख्यान का आयोजन किया गया।
7. 28 जून, 2012 को 4 जून, 2012 में आयोजित चित्रकला प्रतियोगिता में भाग लेने वाले बच्चों द्वारा तैयार किये गये चित्रों की प्रदर्शनी का किया गया जिसका उद्‌घाटन श्रीमती आदिति सिंह, मुख्य विकास अधिकारी, लखनऊ द्वारा सम्पन्न हुआ।
8. शैक्षिक कार्यक्रमों के अनुसार दिनांक 9 अगस्त, 2012 को प्रो. अमर सिंह, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय का ''जैन धर्म एवं मूर्तिकला'' विषय पर व्याख्यान का आयोजन किया गया।
9. शैक्षिक कार्यक्रमों के अनुसार दिनांक 12 सितम्बर, 2012 को संग्रहालय में संग्रहित वाद्ययंत्रों

के छायाचित्रों की प्रदर्शनी का आयोजन हुआ। जिसका उद्घाटन भातखण्डे संगीत सम विश्वविद्यालय केड़ा हिमाशुं विश्वरूप, द्वारा हुआ।

10. दिनांक 17 अक्टूबर, 2012 को भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा संग्रहालय प्रदर्शनी हाल में "सुलेखन कला" विषय पर चित्र प्रदर्शनी का आयोजन हुआ, जिसका उद्घाटन प्रो. मनोज कुमार मिश्रा, कुलपति लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा सम्पन्न हुआ।

11. 1 नवम्बर, 2012 को भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा राज्य संग्रहालय के प्रदर्शनी कक्ष में "भारत से बाहर अन्य देशों की कलाकृतियों" शीर्षक पर छायाचित्रों की प्रदर्शनी का आयोजन किया गया।

12. 7 नवम्बर, 2012 को राज्य संग्रहालय लखनऊ द्वारा "सज्जा शिल्प एवं लघु चित्रकला" शीर्षक पर छायाचित्र प्रदर्शनी का आयोजन हुआ जिसका उद्घाटन श्री राजीव नयन पाण्डेय द्वारा हुआ।

13. दिनांक 29 नवम्बर से 20 दिसम्बर तक "पुरातत्व व कला अभिरुचि पाठ्यक्रम का आयोजन किया गया। इस पाठ्यक्रम में लगभग 187 प्रतिभागियों द्वारा आवेदन पत्र प्रस्तुत किया गया जिनमें से 75 प्रतिभागियों द्वारा नियमित रूप से कार्यक्रम में भाग लिया, इस पाठ्यक्रम में प्रतिभागियों द्वारा निबन्ध लेखन भी प्रस्तुत किये जिनको ए.बी.सी. ग्रेड के चयनित निबन्धों को पुरस्कृत किया गया, कार्यक्रम के मुख्य अथिति प्रो. के. के. थपल्याय, कार्यक्रम के विशिष्ट अतिथि उ.प्र. शासन के उप सचिव श्री डी. पी. सिंह एवं संग्रहालय के निदेशक डॉ. राकेश तिवारी के कर कमलों द्वारा प्रतिभागियों को प्रमाण–पत्र व पुरस्कार वितरित किये गये।

14. दिनांक 6–7 मार्च, 2013 को "डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल स्मृति व्याख्यान माला का आयोजन किया गया, जिसमें डॉ. कृपाशंकर सारस्वत द्वारा "वानस्पतिक औषधीय द्रव्यों का उपयोग पुरातत्व के सन्दर्भ में" विषय पर व्याख्यान दिया।

15. मार्च, 2013 के अन्त में संग्रहालय में संग्रहित खिलौनों के छायाचित्रों की एक प्रदर्शनी का आयोजन किया गया।

16. दिनांक 19.04.2013 को विश्व धरोहर दिवस के अवसर पर भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, उ.प्र. पुरातत्व निदेशालय एवं राज्य संग्रहालय, लखनऊ ने संयुक्त रूप से छायाचित्र प्रर्दशनी का आयोजन किया, जिसका उद्घाटन डॉ. आर.सी. त्रिपाठी, भूतपूर्व महानिदेशक, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, भारत सरकार, नई दिल्ली द्वारा किया गया, इस अवसर पर उ.प्र. पुरातत्व निदेशालय द्वारा राज्य संग्रहालय, लखनऊ को भोज प्रथम का ताम्र–पत्र भेटस्वरूप प्रदान किया गया।

17. दिनांक 18.05.2013 को विश्व संग्रहालय दिवस के अवसर पर राज्य संग्रहालय, लखनऊ की

उत्कृष्ट कलाकृतियों की छायाचित्र प्रदर्शनी का आयोजन किया, जिसका उद्घाटन श्री चन्द्रभान मिश्र, पूर्व अधीक्षण, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, भारत सरकार, लखनऊ द्वारा किया गया।

18. दिनांक 26.06.2013 को प्रदर्शनी कक्ष में ''पाकिस्तान के संग्रहालयों में संग्रहित गांधार कलाकृतियों'' विषयक पर छायाचित्र प्रदर्शनी का आयोजन किया, जिसका उद्घाटन पूर्व प्रोफेसर अमर सिंह, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ द्वारा किया गया।

19. दिनांक 25.07.2013 को मूक वधिर एवं मानसिक रुप से मंदित बच्चों की क्ले माडलिंग की एक दिवसीय कार्यशाला का आयोजन किया गया जिसमें लगभग 40 बच्चों ने भाग लिया। कार्यक्रम की मुख्य अतिथि श्रीमती प्रीति चौधरी द्वारा बच्चों को पुरस्कारों का वितरण किया गया।

20. दिनांक 07.08.2013 को सचिव संस्कृति भारत सरकार एवं ब्रिटिश म्यूजियम के निदेशक व दो अन्य विद्वानो को संग्रहालय की वीथिकाओं का अवलोकन कराया गया इस अवसर पर राज्य संग्रहालय लखनऊ में संग्रहित पिपरहवा से प्राप्त कास्टकेट (अनुकृति) एवं बुद्ध के अवशेषों को प्रदर्शित किया गया।

21. दिनांक 27.08.2013 को मूक वधिर एवं मानसिक रुप से मंदित बच्चो की क्ले माडलिंग की एक दिवसीय कार्यशाला का आयोजन किया गया।

22. दिनांक 31.08.2013 को विक्टोरिया मेमोरियल हॉल, कोलकाता एवं राज्य संग्रहालय, लखनऊ के संयुक्त तत्वावधान में ''1857–आजादी की पहली चिंगारी'' विषयक छायाचित्र का आयोजन किया गया। जिसका उद्घाटन पूर्व महासचिव, राज्य सभा, भारतीय संसद, नई दिल्ली द्वारा सम्पन्न हुआ।

23. दिनांक 12.09.2013 को माह प्रदर्श श्रृंखला के अन्तर्गत मुगल शासक जहाँगीर द्वारा निर्गत शबीह युक्त राशियों के सिक्कों को प्रदर्शित किया गया जिसका उद्घाटन प्रोफेसर प्रशान्त श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ द्वारा किया गया।

24. दिनांक 27.09.2013 को डॉ. रमानाथ मिश्रा पूर्व विभागाध्यक्ष, का 'मृण्मूर्तियों' पर व्याख्यान का आयोजन किया गया, जिसकी अध्यक्षता डॉ. रामाश्रय अवस्थी पूर्व प्रोफेसर प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ द्वारा की गयी।

25. दिनांक 30.09.2013 तक विक्टोरिया मेमोरियल हॉल, कोलकाता एवं राज्य संग्रहालय, लखनऊ के संयुक्त तत्वावधान में ''1857–आजादी की पहली चिंगारी'' विषयक छायाचित्र की प्रदर्शनी लगी रही।

26. दिनांक 06.10.2013 को वन्य प्राणि सप्ताह के उपलक्ष्य में वन्य जीवो से सम्बन्धित प्रदर्शनी लगायी गयी।

27. दिनांक 06.10.2013 को माह प्रदर्श श्रृंखला के अन्तर्गत शुतुरमुर्ग के दो अण्डो को प्रदर्शित किये गये जिसका उद्घाटन भूतपूर्व प्रोफेसर अमर सिंह, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ द्वारा किया गया।

28. माह नवम्बर–2013 में राम कथा पर चित्रों की प्रदर्शनी लगायी गयी। एवं माह प्रदर्श श्रृंखला के अन्तर्गत शेषशायी विष्णु को प्रदर्शित किया गया जिसका उद्घाटन भूतपूर्व सचिव, ललित कला अकादमी, लखनऊ द्वारा किया गया।

29. 20–21 दिसम्बर, 2013 को दो दिवसीय फोटोग्राफी तकनीकी पर कार्यशाला एवं तत्सम्बन्धी प्रदर्शनी का आयोजन किया गया। उक्त कार्यशाला में 35 प्रतिभागियों ने भाग लिया। कार्यशाला का उद्घाटन डॉ. राकेश तिवारी, पूर्व निदेशक, उ.प्र. पुरातत्व विभाग, लखनऊ एवं पुरस्कार वितरण श्री पी.के. मिश्र अधीक्षण पुरातत्वविद्, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, लखनऊ मंडल, लखनऊ द्वारा किया गया।

30. जनवरी, 2014 के दुसरे सप्ताह में कला अभिरुचि पाठ्यक्रम का आयोजन किया गया।

31. मार्च, 2014 में डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल व्याख्यान माला का आयोजन किया गया।

□□

TABLE OF TRANSLITERATION

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए
a	ā	i	ī	u	ū	e
ऐ	ओ	औ	अं	अः	ऋ	लृ
ai	o	au	ṁ	ḥ	ṛ	lṛ

क्	ख्	ग्	घ्	ङ्
k	kh	g	gh	ṅ
च्	छ्	ज्	झ्	ञ
c	ch	j	jh	ñ
ट्	ठ्	ड्	ढ्	ण्
ṭ	ṭh	ḍ	ḍh	ṇ
त्	थ्	द्	ध्	न्
t	th	d	dh	n
प्	फ्	ब्	भ्	म्
p	ph	b	bh	m
य्	र्	ल्	व्	श्
y	r	l	v	ś
ष्	स्	ह्	क्ष्	त्र्
ṣ	s	h	kṣ	tr
		ज्ञ		
		jñ		

सामान्य निर्देश

1. यह पत्रिका संग्रहालय एवं पुरातत्व से सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर लिखे गए शोध–पत्रों का स्वागत करती है।
2. शोध–पत्र हिन्दी अथवा अंग्रेजी में लिखे जा सकते हैं।
3. शोध–पत्र ए4 आकार के कागज पर एक ही ओर दोहरे स्पेस में सुस्पष्ट टंकित होने चाहिए।
   (क) अंग्रेजी में टंकित लेखों के लिए : फॉन्ट का नाम– एरियल, शोध–पत्र का शीर्षक– फॉन्ट साइज 14, लेखक का नाम व ईमेल–फान्ट साइज 11, टेक्स्ट–फान्ट साइज 12
   (ख) हिन्दी में टंकित लेखों के लिए : फॉन्ट का नाम– कृति देव 010 शोध–पत्र का शीर्षक–फान्ट साइज 16, लेखक का नाम व ईमेल–फान्ट साइज 13, टेक्स्ट–फान्ट साइज 14
4. यथासम्भव संक्षेप चिन्हों का प्रयोग न किया जाए। यदि ऐसा करना आवश्यक हो तो लेख के अन्त में संदर्भ के बाद उनकी सम्पूर्ण सूची दी जाए।
5. छायाचित्र (श्वेत–श्याम अथवा रंगीन) उत्तम कोटि के, कन्ट्रास्ट एवं 300 डी.पी.आई. के होने चाहिए।
6. छायाचित्र/रेखाचित्र के शीर्षक हल्की पेंसिल से उनके पीछे अंकित होने चाहिए।
7. चित्र/रेखाचित्र ड्राइंग शीट पर बने हों और उनके शीर्षक की एक सूची लेख के साथ अलग से संलग्न की जाए।
8. संदर्भों का विवरण लेख के अंत में अलग पृष्ठ पर संलग्न किया जाए।
9. आभार प्रदर्शन सम्बंधी विवरण एक अलग पृष्ठ पर संदर्भों के पूर्व संलग्न किया जाए।
10. संस्कृति/हिन्दी शब्दों के डाइक्रिटिकल चिन्हों का प्रयोग यथास्थान किया जाए।
11. शोध–पत्र, छायाचित्र, रेखाचित्र आदि के चयन के विषय में सम्पादक का निर्णय अंतिम होगा।
12. लेख में उल्लिखित मतों के लिए सम्पादक उत्तरदायी नहीं होंगे।
13. शोध–पत्र की पाण्डुलिपियां दो प्रतियों में 'माइक्रोसाफ्ट वर्ड' में सी.डी. सहित भेजी जाए।
14. शोध–पत्र वापस लौटाने हेतु उचित मूल्य के डाक टिकट लगा हुआ स्वयं का पता लिखा लिफाफा भेजा जाए।
15. पत्रिका सम्बन्धित समस्त पत्र व्यवहार, सम्पादक, संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका, राज्य संग्रहालय, बनारसीबाग, लखनऊ–226001 के पते पर किया जाये। फोन– 0522–2206157, 2206158

General Guidelines

1. The research paper related to the various fields of Museuology and Archaeology will be acceptable for this journal.
2. The article may be written in Hindi or English.
3. All manuscripts should be typed in double space on one side of the A4 size paper.
   (a) For the manuscripts in English : Font name - Arial Title of Article- font size 14, Author's name and email address- font size 11, Text-font size 12.
   (b) For the manuscripts in Hindi : Font name- Kruti Dev 010, Title of Article Title-font size 16, Author's name and email address-font size 13, text-font size 14.
4. As far as possible abbreviation should not be used in case they have been corporated, a complete list of abbreviations used should invariably be given at the end of 'References'.
5. Photographs should be (black and white or coloured) on glossy paper in high contrast and 300 DPI.
6. The caption of the photograph and line drawing whould be mentioned by a soft pencil of the backside of the same.
7. Drawing/line drawing should be on drawing sheet and list of such caption should be enclosed alongwith the article separately.
8. References should be given in the end of the article on a separate sheet.
9. Acknowledgement should be given on a separate sheet and enclosed with the article before References.
10. The diacritical marks should be used on Sanskrit/Hindi words.
11. In the selection of research paper, photograph/line drawing, the decision of the Editor will be final.
12. The Editor will not be responsible for the views expressed in the articles.
13. The manuscripts of the papers should be sent in two sets along with an electronic copy of the paper in Microsoft word on a C.D.
14. Self addressed envelope along with postal stamp of sufficient amount is required to return back the research paper.
15. All correspondence should be addressed to : The Editor, Bulletin of Museums and Archaeology, State Museum, Banarsi Bagh, Lucknow- 226001, Phone - 0522-2206157, 2206158

Museum Publications for Sale (Books)

	Books	Authors	Price
1.	Catalogue of Saka Pahlava coins Northem India in the State Museum, Lucknow	Dr. A. K. Srivastava	16.00
2.	Supplementary Catalogue Mughal Coins in the State Museum, Lucknow	Sri C.R. Singhal	20.00
3.	Brahmanical Sculptures in the State Museum, Lucknow Part-2 Vol. 1	Dr. N. P. Joshi	250.00
4.	Brahmanical Sculputres in the State Museum, Lucknow Part-2 Vol. II	Dr. N. P. Joshi	200.00
5.	Masterprieces in the State Museum, Lucknow	S. D. Trivedi	200.00
6.	उपदेवता : एक स्वतंत्र अध्ययन	डॉ. एन. पी. जोशी	60.00
7.	A Guide Book to the Archaeological Section in the State Museum, Lucknow	Dr. S. D. Trivedi	50.00
8.	Catalogue of Capper Plates in the State Museum Lucknow	V. N. Srivastava	80.00

Research Journal Bulletin of Museums & Archaeology (For Sale)

				Price Rs. P.
Nos.	26	Decorative Art Dec. 1980		6.00
Nos.	27-28	June-Dec. 1981 (Joint Issue)		10.00
Nos	29-30	June-Dec. 1982 (Joint Issue)		10.00
Nos.	31	June- 1983		6.00
Nos.	32	Dec. 1983		6.00
Nos.	33-34	June-Dec. 1984 (Joint Issue)		10.00
Nos.	35-36	June-Dec. 1985 (Joint Issue)		10.00
Nos.	37	June 1986		6.00
Nos.	38	June 1987		6.00
Nos.	39	June 1987		6.00
Nos.	40	Dec 1987		6.00
Nos.	41-42	June-Dec. 1988 (Joint Issue)	(Paper back)	20.00
Nos.	41-42	June-Dec. 1988 (Joint Issue)	(Special Issue)	100.00
Nos.	43-44	June-Dec. 1989 (Joint Issue)	(Paper back)	20.00
Nos.	45-46	June-Dec. 1990 (Joint Issue)		10.00
Nos.	47-48	June-Dec. 1991 (Joint Issue)	(Special issue)	150.00
Nos.	49-50	June-Dec. 1992 (Joint Issue)		100.00
Nos.	51-52	June-Dec. 1993 (Joint Issue)		110.00
Nos.	53-54	June-Dec. 1994 (Joint Issue)		160.00
Nos.	55-56	June-Dec. 1995 (Joint Issue)		160.00
Nos.	57-58	June-Dec. 1996 (Joint Issue)		100.00
New Series-1		Year- 2013		120.00

Note : Prices are liable to change. Postage extra. Attractive terms of Booksellers. Contact the Director, State Museum, Lucknow- 226 001, Ph. : 0522-2206157, 2206158